

ककहरा कुपोषण का



खाद्य सुरक्षा

सेवाएं

समाज

कुपोषण का एकीकृत समुदाय आधारित प्रबंधन

शीर्षक	:	ककहरा कुपोषण का
लेखन	:	सचिन कुमार जैन
सह लेखन	:	दीपा पोहनकर और डॉ. अपरा विजयवर्गीय,
लेखन सहयोग	:	दीपा सिन्हा, बिराज पटनायक, प्रशांत कुमार दुबे, सीमा प्रकाश, अमीन चार्ल्स, रोली शिवहरे
मार्गदर्शन	:	राकेश दीवान
संपादन सहयोग	:	सौमित्र रॉय और चिन्मय मिश्र
प्रकाशक	:	विकास संवाद समिति
संपर्क	:	ई 7/226, प्रथम तल, धनवंतरी कॉम्पलेक्स के सामने, अरेरा कॉलोनी, शाहपुरा, भोपाल, मध्यप्रदेश
ई-मेल	:	vikassamvad@gmail.com
वेबसाइट	:	www.mediaforrights.org
प्रकाशन वर्ष	:	जनवरी, 2013
मुद्रक	:	एमएसपी ऑफसेट, एमपी नगर, भोपाल
सहयोग	:	इस पुस्तिका के प्रकाशन के लिए सहयोग चाईल्ड राइट्स एण्ड यू (काय) ने उपलब्ध करवाया है।



ककहरा कुपोषण का

ककहरा कुपोषण का

यह नजर आता है और हम इसे महसूस भी कर पाते हैं। यह शरीर की नहीं, राज्य और सामाजिक व्यवस्था की बीमारी है। कुपोषण एक चुनौती भी है और सवाल भी। पिछले 12 वर्षों तक बहस-मुबाहिसों के दौरान बार-बार यह भी लगता रहा कि विज्ञान या तकनीकी नजरियों से तो कुपोषण को बार-बार परिभाषित किया जाता रहा है, परन्तु कुपोषण को कहानियों के रूप में भी व्यक्त किया जा सकता है क्या? तय बात थी कि कुपोषण की कहानी काल्पनिक नहीं हो सकती थी। इसके सभी पात्र सजीव भी नहीं होंगे। ऐसे में लगा कि कुपोषण के अलग-अलग पहलुओं को ऐसे चित्रित किया जाए कि लोग इसे अपने जीवन और आस-पड़ोस से जोड़ कर महसूस कर सकें।

हमें नहीं पता कि लेखन और अध्ययन की कौन सी विधा के साथ इसे जोड़ कर देखा जाना चाहिए, पर यह तय है कि इसमें लिखा गया हर तथ्य और आंकड़ा और परिस्थिति वास्तविक है, काल्पनिक नहीं। कुपोषण के बारे में बहुत बुनियादी बातें हैं इस दस्तावेज में, इसीलिए हमने इसे नाम दिया है – ककहरा कुपोषण का।

आप अपने सुझाव और प्रतिक्रिया जरूर दीजियेगा।

विकास संवाद समूह

भूख का चक्र और कुपोषण



ककहरा कुपोषण का



नारायण सहरिया का गांव ककरा। सरकार ने सहरियाओं को विशेष पिछड़ी हुई आदिम जनजाति का दर्जा दिया है, जिसका मतलब है स्वास्थ्य और पोषण। शिक्षा, खाद्य सुरक्षा और आजीविका के नजरिए से संकट में घिरा समुदाय। संकट भी मामूली नहीं। इतना बड़ा कि इससे उनकी जनसंख्या या तो कम होने लगी, या फिर लगभग उतनी ही बनी रही जितनी कई साल पहले थी। सहरिया का मतलब सूरदास के एक कूटपद में कहा गया है— स का मतलब साथी और हरिया का मतलब शेर यानी शेर का साथी। यानी जंगल में शेर के साथ रहने वाला। इससे साफ है कि यह समाज प्रकृति से कितना गहरा जुड़ा रहा है।

नारायण सहरिया पीढ़ियों से जंगल और प्राकृतिक संसाधनों से पौष्टिक भोजन और आजीविका प्राप्ति कर जीवनयापन करता रहा। समुदाय के बादिलाल कहते हैं, 'जंगल से अचार (जिसमें से चिरौंजी निकलती है) मिलता था। चैत्र में तेंदू, कांकर, गोंड, इमली मिलती थी, बैसाख में बील, ऊमर मिलता था, आषाढ़ में मिन्जी, गिलू, खजूर मिलता था, भादों में काकोर, फांग और पमार की बाजी मिलती थी। कार्तिक में बेर, मकोहा, सहजन मिल जाता था तो माघ और फाल्गुन में आंवला मिला करता था।

इसका मतलब है कि पेट भरने और पौष्टिक भोजन के रूप में सबसे अच्छी गुणवत्ता की चीजें सहरियाओं को मिल जाती थीं। ये आज बाजार में सबसे मंहगी खाद्य वस्तुएं हैं, किन्तु इन लोगों की पहुंच से बाहर। तब नारायण सहरिया के परिवार में 7 बच्चों ने जन्म लिया। इनमें से 3 की मौत हो गई और चौथा बच्चा गंभीर कुपोषित है। नारायण के बच्चे कमजोर थे, दुबले—पतले। डॉक्टर कहते हैं खून और पोषण की कमी है उनमें। इसी कारण उनकी मौत हो रही है।

सरकार की अध्ययन रिपोर्ट बताती है कि अब सहरियाओं का लगभग हर बच्चा कमजोर है। इसे कुपोषण कहते हैं। कुपोषण यानी भरपेट पोषणयुक्त भोजन न मिलना। सहरियाओं को पोषण तो प्रकृति से मिलता था, जंगल से मिलता था। इसका मतलब यह है कि इन आदिवासियों से प्रकृति और जंगल



ककरा कुपोषण का



को छीन लिया गया है। वे किसी के पास नहीं जाते थे अपनी खाली थाली लेकर। उन्होंने खुद अपनी व्यवस्था बनायी थी, जो टूट गयी है। इसके टूटने का मतलब है संसाधन छीन कर उन्हें यह अहसास करवाना कि वे स्वतंत्र नहीं, निर्भर हैं सरकार पर या किसी और संस्था पर। इंतजार करवाना कि कोई आएगा दलिया या खाना लेकर और उनके बच्चों को खिलायेगा। जिस दिन वह नहीं आएगा, उस दिन बच्चे भूखे रहेंगे। उन्हें भूखे रहने की आदत डाल लेनी होगी, क्योंकि वे बच्चे इस व्यवस्था की प्राथमिकता में नहीं होंगे। यदि सरकार का नुमाइंदा खाना बांटने आ भी गया तो उसका समय समाज नहीं, सरकार तय करेगी।

देवखेडा गांव की सुगना आदिवासी को रोज सुबह 9 बजे आंगनवाड़ी केंद्र खोलना होता है, पर तब तक ज्यादातर लोग लकड़ी बीनने या मजदूरी करने चले जाते हैं। आंगनवाड़ी 3 बजे बंद हो जाती है और लोग 5 बजे लौटते हैं। जिनके लिए यह व्यवस्था है, उन्हें कुछ भी तय करने का अधिकार नहीं है।

पोहरी विकासखंड से 8 किलोमीटर दूर सड़क से लगा ककरा गांव। गांव के ज्यादातर बच्चे बेर की गुठली जैसे फल के बीज को खाते रहे

हैं। आदिवासी समुदाय प्रकृति से मिलने वाली कई लघु वनोपजों का खाने में उपयोग करता है। कई चीजों में पोषण भी खूब है। पर मुझे स्थिति गंभीर तब लगी, जब मैंने उनसे पूछा कि यह मिलता कहां से है? तब उन्होंने पास ही पड़े गोबर के ढेर की तरफ इशारा किया। उन्होंने बताया कि जानवर जंगल में उस फल को खाते हैं। उसका छिलका और गूदा तो वे हजम कर लेते हैं, पर बीज उनके गोबर के साथ बाहर आ जाता है। मैं तो आवाक् था। शायद आप भी हों। इसका नाम उन्होंने बताया— गोंठा या गोंठी।



हम इस गांव के कुछ घरों में गए, बैठे और बात की। हर घर में 10–20 किलो गेहूं था। राशन में उन्हें यही मिलता है। एक भी घर ऐसा नहीं था, जिसमें पिछले 20 दिनों में दाल पकी हो। छोटे बच्चे अपनी मां या दादी की गोद में बैठे सूखी रोटी खा रहे थे। यहां पोषण जैसी कोई अवधारणा नहीं दिखी। पीने का पानी सड़क से लगभग 600 मीटर दूर दो हैंडपम्पों में मिलता है। गांव में पानी की टंकी भी नहीं है।

ककरा कुपोषण का



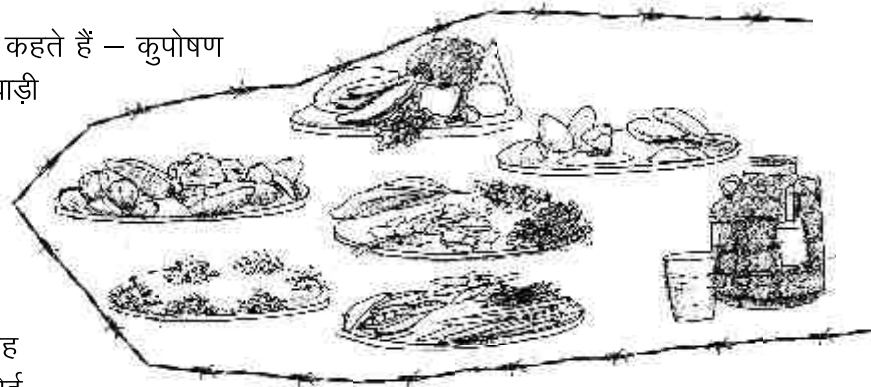
सहरियाओं को वर्ष 2002 से 2004 के बीच जमीन के पट्टे दिए गए। सरकार के रिकार्ड में दर्ज है कि उनके पास जमीन है। पर आदिवासियों को उनकी जमीन का मालिकाना हक कभी नहीं मिला। नोनहेटा—खुर्द गांव के 40 परिवारों को वर्ष 2002 में पट्टे मिले, पर आज तक उन्हें पता नहीं चला कि उनकी जमीन है कहां? ये लोग बार—बार सीमांकन और नपती के लिए आवेदन देते रहे हैं, परन्तु कभी कोई सुनवाई हुई नहीं।

राजसत्ता की मानों मानसिकता बन गयी है — जो वंचित हैं उन्हें जिन्दा रखो, पर मालिकाना हक मत दो। न पानी, न हवा पर, न जमीन पर, न स्वास्थ्य का और न ही अपना समाज चलाने का। तब भूख स्थायी बीमारी बनेगी और सबसे पहले बच्चों को निशाना बनाएगी, क्योंकि उनकी भाषा सरकार समझती नहीं है। मीडिया में हल्ला मचा तो ककरा गांव में पोषण आहार की 20 बोरियां पहुंचा दी गयीं। 20—20 जोड़ी बर्तन पहुंच गए और लोगों को हिदायत दे दी गयी कि वे किसी को न कहें कि बच्चे भूखे हैं। इस तरह होता है भुखमरी के संकट का सामना।

जिन साधनों से लोगों को पेट भर पौष्टिक भोजन मिलता था, वे लोगों की पहुंच से बाहर होते गए और कुपोषण की परिस्थितियां बनने लगीं। यूनिसेफ ने साल 2012 में एक रिपोर्ट जारी करके बताया कि वर्ष 2010 भारत में 6 लाख से ज्यादा बच्चे निमोनिया और डायरिया से मरे। दुनिया भर में हुई 21 लाख मौतों में से इतने भारत के थे।

सोचिये कि क्या निमोनिया और डायरिया इतनी गंभीर बीमारियां हैं कि इनसे बच्चे मरने लगें? नहीं! इन बीमारियों से कुपोषित बच्चे ज्यादा मर रहे हैं, क्योंकि कुपोषण बच्चों की बीमारी से लड़ने की ताकत खत्म कर देता है।

कुपोषण हम सबका मुद्दा है। अब तो प्रधानमंत्री जी भी कहते हैं — कुपोषण हमारे लिए राष्ट्रीय शर्म का विषय है! देखो तुम्हारे आंगनवाड़ी केंद्र की दीवार पर भी यही लिखा हुआ है। कुपोषण बीमारी तो नहीं है, पर यह कई बीमारियों का कारण जरूर है। इन बीमारियों के कारण कई बच्चे मर भी जाते हैं। कुपोषण से बच्चा बहुत कमजोर हो जाता है। वह खेलता नहीं, हंसता—मुस्कुराता नहीं और बार—बार बीमार पड़ता रहता है। क्या इसे बचपन कह सकते हैं? याद रखिये कि 2—4 दिन कम खाने से कोई मरता नहीं है। पर यदि हमें रोज जरूरत से कम भोजन मिले तो शरीर कमजोर होने लगता है। कमजोर शरीर को बीमारियां जल्दी घेरती हैं। खाने का मतलब केवल रोटी या चावल या अनाज नहीं



दालें, फल, और पत्तेदार और फलीवाली, जड़ वाली सब्जी, दूध, फल से भी है। साथ ही अंडा या मांस भी, अगर हम खाते हों तो!

हम यह सवाल कभी नहीं पूछते कि खाना क्यों इतना जरूरी है? सोचो कि मोटर सायकल बिना पेट्रोल-आइल-ग्रीस-पहिये की हवा के चलती है क्या? जब मशीन बिना खाने के नहीं चलती तो शरीर कैसे चलेगा? उसी तरह जब बच्चों को उनकी उम्र और जरूरत के मुताबिक लगातार पूरा पोषण और भोजन न मिले तो वे कुपोषित हो जाते हैं। कुपोषण दूर करना है तो तय कर लीजिये कि उन्हें हर रोज भरपेट अच्छा खाना मिले। अगर जन्म से ही हम बच्चे को सही पोषणयुक्त खाना देंगे तो वे कभी कुपोषित नहीं होंगे।



कुपोषण का जन्म

शिक्षित लोग बता रहे हैं कि आदिवासियों के बच्चे ज्यादा कुपोषित हो रहे हैं। सरकार की तमाम योजनाओं में आदिवासियों को वंचित, पिछड़ा या आदिम समूह कहा जाता है। उन्हें छोड़कर बाकी समाज “विकसित” हो गया है। पर लोग वास्तव में सच जानना नहीं चाहते हैं।

मध्यप्रदेश के डिंडोरी, मंडला, बालाघाट, सीधी और सिवनी जिले के बैगा और गोंड आदिवासी जंगल से 25 तरह के मशरूम, 5 तरह की शहद, 28 तरह के कंद, 45 तरह की भाजियां लाते थे। यह उनकी खाद्य सुरक्षा और स्वास्थ्य को सुरक्षित रहता था। इस संपदा को लौटाने के लिए सरकार को जंगल की कटाई रोकनी पड़ेगी, पर क्या सरकार इसके लिए तैयार है?

आदिवासियों को जंगल से ही आंवला, औषधीय पौधे, इमली, चिरौंजी, हर्रा—बहेड़ा, तेंदू, महुआ मिल सकता है, जो उनकी आजीविका को एक ठोस आधार प्रदान करेगा। महाकोशल के इलाकों में 30 साल पहले 56 तरह के अनाज मिलते थे। आज लोग केवल 24 के बारे में जानते हैं, 28 तरह के कंदमूल में से 13 के बारे में जानकारी है, 45 तरह के फल—फूल में से 21 की और 54 तरह की सब्जी—भाजी में से 27 की जानकारी उपलब्ध है। जिन्हें आज सरकार पिछड़ा बताती है, वे 262 तरह की सामग्री का अपने खाने में उपयोग करते थे। तो पिछड़ा और गरीब कौन है?

बालाघाट के सिंगौरी गांव में विस्थापित जीवन जी रही बरको बाई ने कहा “देख भईया, भोपाल से आया है। हमने सब सुन लिया। अब तुम हमार बात सुनीस। हमका जंगल से भगा देईस तो हमार तो रोटी चला गया। सरकार बस दाना देकर मुर्गी लड़ाई कराई, अब नहीं। हमें कहता है तुमने जमीन पर कब्जा किया है। अब छोड़ो। सैंकड़ों साल से रह रहे थे। अब कहते हैं हम अवैध हो गए। कोई ये न बताई कि कहां



जाई। अब जंगल न जा सके, जानवर न पाल सके, देवता न पूज सके, कंदा भाजी मिलता था पेट भरती का, अब वह उनके (सरकार के) कब्जे में है।”

विकास की मौजूदा अवधारणा ने आदिवासियों के गुजारे की मूल व्यवस्था को तोड़कर रख दिया है। इसी कारण आज यही समुदाय सबसे ज्यादा भूख और सामाजिक असुरक्षा का शिकार हुआ। मध्यप्रदेश में सिंचित खेती का रकबा कुल क्षेत्र का लगभग 37 प्रतिशत है, लेकिन 10 फीसदी से कम आदिवासी इलाकों में ही सिंचाई सुविधा उपलब्ध है। उनकी जमीनें ऊबड़-खाबड़, पठारी और असमतल है। रागी, कोदो, कुटकी, सांवा, दलहन आदि पौष्टिक अनाजों को, जिन्हें आज मोटा अनाज कहा जाता है, असल में बारीक अनाज होता है। इनका उत्पादन कम होता गया, पर आज भी प्रदेश को पौष्टिक अनाज का 90 फीसदी हिस्सा इन्हीं आदिवासी इलाकों से मिलता है। यानी जहां सिंचाई नहीं है वह इलाका पौष्टिक अनाज पैदा करता है।

जब सिंचाई की बात होती है तो यह क्यों नहीं देखा जाता कि कम पानी वाले स्थानों पर पौष्टिक अनाज की परंपरा और व्यवहार वाली अर्थव्यवस्था रही है।



सिर्फ गेहूं और चावल की ही बात क्यों? जबकि हम जानते हैं कि 100 ग्राम चावल में 6.8 ग्राम प्रोटीन और 0.7 मिलीग्राम आयरन होता है, परन्तु बाजरा में 10.6 ग्राम प्रोटीन और 16.9 मिलीग्राम आयरन होता है। गेहूं में 11 मिलीग्राम कैल्शियम है, लेकिन रागी या नाचनी में 344 मिलीग्राम कैल्शियम होता है।

अखबारों में अक्सर सामने आता है कि आदिवासी घास की रोटी खा रहे हैं। असल में यह सावा नाम की घास है। उसमें गेहूं से ज्यादा प्रोटीन और आयरन होता है। ये जलवायु परिवर्तन से जमकर मुकाबला कर सकते हैं। यदि हम स्थानीय पौष्टिक अनाजों के उत्पादन और उपयोग को प्रोत्साहित करने के साथ यह सुनिश्चित करें कि ये आदिवासियों की थाली तक पहुंचें तो काहे का कुपोषण!!

बैतूल में गुरुवा गांव के किसान भैयालाल कहते हैं कि सरकारी योजना की कोई बात मत करो। अधिकारी हमें गेहूं और धान के बीज देकर समझाते हैं कि ये उगाओ, अच्छे भाव मिलेंगे। जब खेत में पानी नहीं है तो पानी पीने वाली इन फसलों को उगाकर हम जिंदा कैसे रहें?

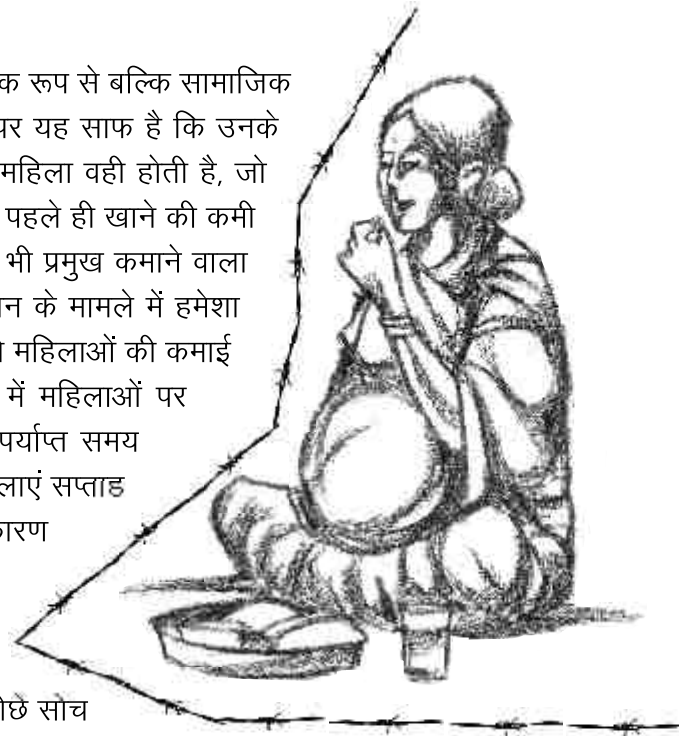
डिंडोरी के लमतु बैगा के मुताबिक, अधिकारी जानते ही नहीं हैं कि बैगा किस तरह की खेती करते हैं। वे आये और धान का बीज बांट गए। कोदो—कुटकी के बीज तो उनके पास होय नी, हमारी फसल के बारे में न वो पूछे, ना वो कुछ जाने। बिना कोदो कुटकी खाए और, मक्के का पेज पिए बिना हमारा जात का पेट ही न भरे”। अब आप ही सोचिये पिछड़ा अज्ञानी और नादान कौन है?

लिंगभेद और भूख

हमारे घर में औरत सबसे आखिर में खाना खाती है, एकाध दिन नहीं बल्कि हर रोज! यानी आखिर में तो वही खायेगी जो बचा रहेगा। यदि कुछ नहीं बचता है तो नही भी खायेगी। ईमानदारी से सोचिये और बताइये कि जब खुद के लिए खाना नहीं बचता है तब क्या वह अपने अकेले के लिए खाना पकाती है? मेरा जवाब है—नहीं! घर और बाहर का दोहरा श्रम और भोजन के मामले में हक की परिधि से बाहर क्या यही सच्चाई नहीं है स्त्रियों की खाद्य सुरक्षा की? सामान्य रूप से सांस्कृतिक और सामाजिक—आर्थिक व्यवस्था के सिद्धान्तों के आधार पर यही माना जाता है कि महिलायें उन्नति और जीवनयापन की प्रक्रिया में कोई उत्पादक भूमिका नहीं निभाती हैं। वहीं दूसरी ओर इस तर्क का जवाब इन आंकड़ों से दिया जा सकता है कि खेतों में होने वाले कमरतोड़ काम का 70 फीसदी हिस्सा महिलाओं द्वारा किया जाता है। घरेलू कामों का जब उत्पादक के रूप में आर्थिक विश्लेषण होता है तो पता चलता है कि यदि महिलायें वह मेहनतभरी भूमिका निभाना



बंद कर दें तो पूरी सामाजिक व्यवस्था तहस—नहस हो जायेगी, न केवल आर्थिक रूप से बल्कि सामाजिक रूप से भी। इसके बावजूद हमारे समाज में महिलाओं की स्थिति के आधार पर यह साफ है कि उनके साथ खानपान के मामले में भेदभाव किया जाता है। परिवार की एक आदर्श महिला वही होती है, जो सभी को खिलाने के बाद सबसे अंत में भोजन ग्रहण करे। ऐसे परिवारों में जहां पहले ही खाने की कमी होती है, वहां लड़के को लड़कियों से पहले खाना परोसा जाता है। घर में जो भी प्रमुख कमाने वाला होता है, वही सबके लिए भोजन का बंटवारा करता है। लड़कियों को खानपान के मामले में हमेशा त्याग करने की सीख दी जाती है। जिन परिवारों में महिलायें कमाती हैं, वहां भी महिलाओं की कमाई पुरुष सदस्यों के ही हाथ में रखे जाने की परम्परा है। इसके अलावा घर में महिलाओं पर कामकाज का इस कदर दबाव होता है कि उन्हें भोजन करने के लिए भी पर्याप्त समय बमुश्किल से मिल पाता है। शोध के दौरान कई बार यह भी पाया गया कि महिलाएं सप्ताह में कई दिनों तक उपवास करती हैं, लेकिन ऐसा लगता है इन उपवासों का कारण धार्मिक पर्व या अनुष्ठान नहीं, बल्कि औरत के लिये भोजन की कमी होती है। वैसे धार्मिक रूप से भी महिलाओं के खानपान में कई तरह के निषेध बताए गये हैं। मिसाल के लिए विधवा महिलाओं को गरिष्ठ भोजन या प्याज, लहसुन और मांसाहार ग्रहण करने के लिए मना किया गया है। इसके पीछे सोच यही है कि जब पति ही नहीं रहे तो वह इन तामसिक वस्तुओं को भोजन में ग्रहण कर क्या करेगी? उसे तो धार्मिक रूप से सादा जीवन व्यतीत करना चाहिए। माना जाता है कि यदि महिलाएं तामसिक भोजन ग्रहण करें तो उनमें कामेच्छा जाग सकती है। आमतौर पर मासिक धर्म शुरू होने से पहले ही महिलाओं को अच्छा भोजन ग्रहण करने दिया जाता है, उसके बाद नहीं।



गर्भावस्था के दौरान कई समुदायों में महिलाओं को खान—पान में कमी करने की हिदायत दी जाती है, क्योंकि ऐसी धारणा है कि भरपेट भागे जन करने से गर्भ में पल रहे भ्रूण को हिलने—डुलने की जगह नहीं मिल पायेगी। एक और कारण यह भी है कि भरपेट भोजन से शरीर में मोटापे की समस्या पैदा हो जायेगी। और इसके कारण वह घर और खेतों में काम नहीं कर सकेगी। इसके अलावा गर्भावस्था के सातवें महीने में महिला के लिए विभिन्न प्रकार के आयोजनों की प्रथा भी तकरीबन सभी प्रांतों में कायम है। इसके तहत गर्भवती महिला के लिए आटा, मैदा, घी और ग्वारफली के बीज मिलाकर खास तरह की मिठाइयाँ बनाई जाती हैं। इस दौरान प्रसव के पूर्व तक महिला को यह सभी



चीजें नियमित रूप से खानी पड़ती हैं। गर्भावस्था के समय महिला को दूध एवं इससे बनी वस्तुएं, मूंगफली तथा कोई भी चिपचिपा या सफेद पदार्थ, जैसे केला आदि खाने की मनाही रहती है, क्योंकि दाईयों का मानना है कि इन चीजों से कोख में बच्चे के ऊपर एक परत आ जाएगी, जिससे प्रसव में देरी होगी। बाजरा और पपीते जैसी चीजें भी गर्म मानकर महिला को नहीं दी जाती। गुजरात में दही जैसी चीजें भी गर्भवती महिला को खाने में नहीं दी जाती। समाज की मान्यताओं में भी इन चीजों से परहेज की सलाह दी गई है। वैसे गर्भवती महिला को ग्वारफली, गोंद के लड्डू, अजवाइन आदि चीजें आमतौर पर खाने को दी जाती है। माना जाता है कि इनमें ताकत मिलती है और यह स्तनों में दूध बढ़ाने वाली भी होती है।

प्रसव के बाद भी कुछ दिनों के लिए उन्हें खास किस्म का भोजन मिलता है, परन्तु गर्भवती होने और प्रसव के बाद के कुछ दिनों के लिए ही उन्हें कुछ खास भोजन मिलता है क्योंकि समाज की कुछ हद तक की रुचि बच्चे में होती है। समाज इतना नासमझ है कि यह नहीं जान पाता कि औरत को पूरे जीवन भूखे रखकर वह 9 महीने थोड़ा ज्यादा खिला कर स्वस्थ बच्चे हासिल नहीं कर सकता है। त्यौहार और उत्सवों के दौरान भारतीय परिवारों में विशेष पकवान बनाए जाने की परम्परा है, लेकिन कभी-कभी ये महिलाओं के लिए हानिकारक भी होते हैं। मिसाल के लिए गुजरात में जुलाई-अगस्त के सीजन में व्रत रखे जाने की परम्परा है, क्योंकि आयुर्वेद में इस दौरान व्रत रखे जाने की सलाह दी जाती है। लेकिन ऐसे समय, जबकि कृषि कार्य चरम पर हो, भूखे पेट दिन भर कड़ी मेहनत करना महिलाओं के लिए हानिकारक होता है।



यह कहना या सिद्ध करना बहुत जरूरी नहीं है कि किस तरह औरत न केवल प्रत्यक्ष, बल्कि अदृश्य भूख का जीवन इस सामाजिक व्यवस्था में जीती है। मकसद यह है कि हम उस व्यवस्था को जान सके, जिसमें किसी को भूखा रखना वास्तव में सत्ता पर नियंत्रण करने के लिये जरूरी माना जाता है। अर्थव्यवस्था कमजोर नहीं है कि खाना खरीदा न जा सके; न ही जमीन बंजर कि पैदा न किया जा सके। परन्तु सवाल सत्ता का है। यदि भरपेट भोजन मिल जायेगा तो संभव है कि मन और मस्तिष्क स्वस्थ होकर अपनी सामाजिक स्थिति पर कुछ विचार करने लग जायेंगे। समानता की बात होगी, समता की बात होगी और होगी क्षमता की बात। निःसंदेह यह मेरे समाज को मंजूर न होगा।

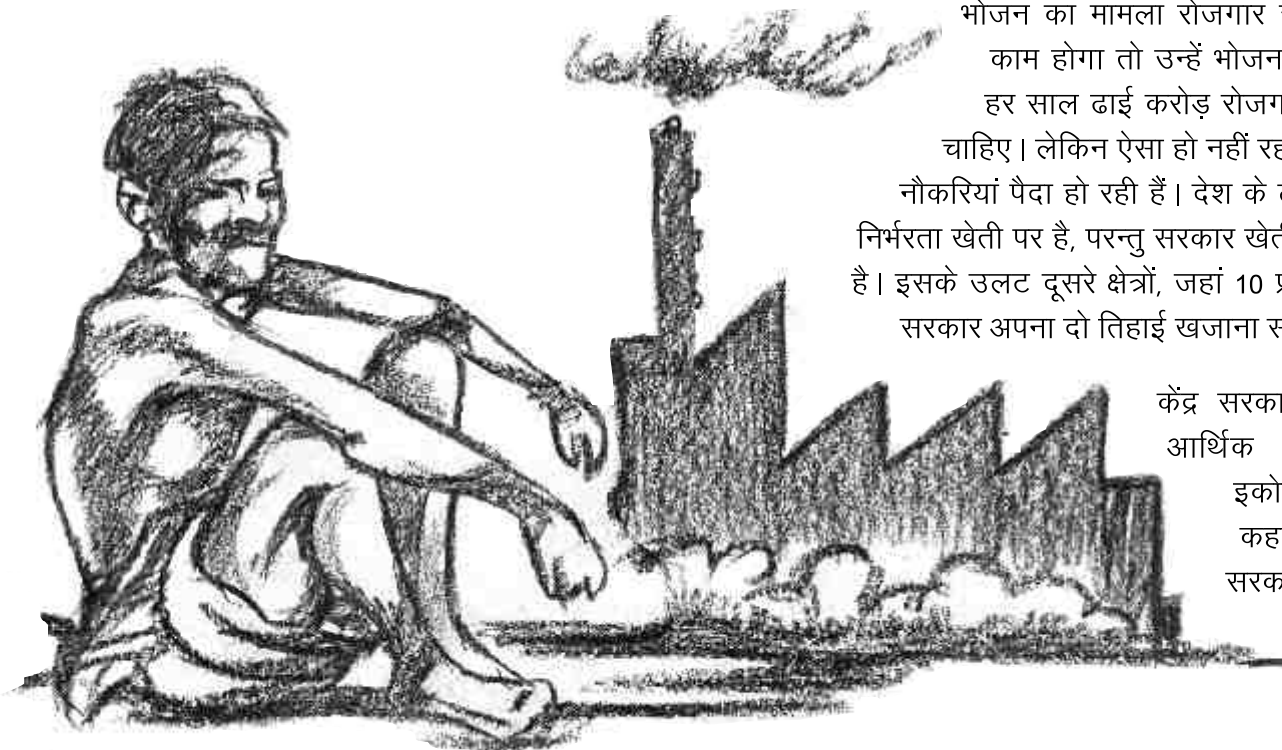
फिर भी हर दौर और कालखण्ड में कभी-कभी ऐसा लगता है, मानों ठहरे हुये पानी में किसी ने पत्थर फेंका हो, जिससे कुछ हलचल होती है, व्यवस्था में बदलाव की उम्मीद जगती है पर फिर वैसा ही सब कुछ चलने लगता है। समाज बदलाव की बेला में केवल बदलाव लाने वालों को दण्डित नहीं करता है, बल्कि वह बदलाव चाहने वालों की भी खबर लेता है। अब केवल महिलायें ही दण्डित नहीं होती हैं, बल्कि उनके साथ खड़े पुरुष भी सत्ता की इस व्यवस्था में दण्ड के अधिकारी बनने लगे हैं।

ककहरा कुपोषण का



और नीतियां पालती हैं इसे अपनी गोद में

कुपोषण तो कुछ तकनीकी लोगों का दिया हुआ शब्द है। इसका सीधा सा मतलब है हर रोज पूरा खाना नहीं मिलने के कारण पैदा होने वाली स्थिति। हमें देखना होगा कि भोजन मिलता कहां से है?



भोजन का मामला रोजगार से जुड़ा है। लोगों के पास काम होगा तो उन्हें भोजन भी मिल जाएगा। भारत में हर साल ढाई करोड़ रोजगार के नए अवसर पैदा होने चाहिए। लेकिन ऐसा हो नहीं रहा है। केवल 20 या 30 लाख नौकरियां पैदा हो रही हैं। देश के लगभग 75 करोड़ लोगों की निर्भरता खेती पर है, परन्तु सरकार खेती पर सबसे कम खर्च करती है। इसके उलट दूसरे क्षेत्रों, जहां 10 प्रतिशत लोग काम करते हैं, सरकार अपना दो तिहाई खजाना सौंप देती है।

केंद्र सरकार ने 2004-05 से विशेष आर्थिक प्रक्षेत्र, जिसे स्पेशल इकोनॉमिक जोन यानी सेज भी कहते हैं, बनाना शुरू किया। सरकार हजारों एकड़ जमीन लेकर ऐसे क्षेत्र बनाएगी, जहां कुछ कंपनियों के

ककहरा कुपोषण का



कारखाने लगेंगे। सरकार का दावा है कि इससे ढेर सारे लोगों को रोजगार मिलेगा, विकास होगा।

सेज में कारखाना लगाने वाली हर कंपनी को पांच साल तक कर में 100 प्रतिशत की छूट दी जाएगी। इसके बाद अगले पांच साल कर में 50 प्रतिशत छूट और बाद के पांच वर्ष तक निर्यात से हुए मुनाफे पर 50 प्रतिशत की छूट मिलेगी। यही नहीं 10 से 15 साल के लिए आयकर में 100 प्रतिशत छूट का प्रावधान भी है।

सरकार ने 2010 तक 194 सेज क्षेत्रों के लिए 51,0370 एकड़ जमीन दी है। इनमें केवल 5.5 लाख लोगों को रोजगार देने की बात है, जबकि खेती की एक एकड़ जमीन 2 लोगों को रोजगार देती है। अब आप सोचिये कि इतनी जमीन लुटाना, जिसके साथ जंगल और पानी जैसे संसाधन भी दिए गए हैं, क्या विकास की सही नीति है?

भोजन का मामला रोजगार से जुड़ा है। लोगों के पास काम होगा तो उन्हें भोजन भी मिल जाएगा। लेकिन लोगों के पास रोजगार नहीं है और सरकार भी पर्याप्त रोजगार उपलब्ध करवा पाने में असमर्थ है।

इसके कारण सरकार ने विशेष आर्थिक प्रक्षेत्र, जिसे स्पेशल इकोनॉमिक जोन यानी सेज भी कहते हैं, बनाना शुरू किया है, जिसके लिए सरकार हजारों एकड़ जमीन लेकर ऐसे क्षेत्र बनाएगी, जहां कुछ कंपनियों के कारखाने लगेंगे। सरकार का दावा है कि इससे ढेर सारे लोगों को रोजगार मिलेगा, विकास होगा।



खेतों को रौंदकर आगे बढ़ने का परिणाम भी कुपोषण

हमारे देश के कुल उत्पादन (उद्योगों, सेवा क्षेत्र आदि) सब मिलाकर केवल 14 प्रतिशत हिस्सा खेती का है, जबकि 67 प्रतिशत लोगों को रोजगार इसी से मिलता है। अब जब रोजगार का इतना संकट है, तो सीधा सा मतलब है कि उत्पादन का भी संकट तो होगा ही।

भारत के आर्थिक सर्वेक्षण 2012 के मुताबिक वर्ष 2011 में अनाज का कुल उत्पादन 24.48 करोड़ टन रहा और सार्वजनिक वितरण प्रणाली, मध्याह्न भोजन योजना और आईसीडीएस के माध्यम से कुल 6.1469 करोड़ टन (यानी कुल उत्पादन का 25.1 प्रतिशत) अनाज जारी किया गया। पिछले दो साल से कृषि मंत्री से लेकर कारपोरेट प्रतिनिधियों तक कई विद्वान बार-बार यह तर्क देते रहे हैं कि सर्वव्यापी राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा कानून लागू करना इसलिए संभव नहीं है, क्योंकि इतना अनाज पैदा ही नहीं होता। फिर दलील दी गई कि इसके लिए तो देश का पूरा अनाज सरकार को खरीदना पड़ेगा। देश की लगभग 78 प्रतिशत आबादी को पूरा पोषण नहीं मिलता और उनकी क्रय क्षमता भी कम है। सस्ता राशन उनकी जरूरत पूरी कर सकता है। सच यह है कि हर व्यक्ति को भूख और कुपोषण से निजात दिलाने के लिए सरकार को केवल 55 प्रतिशत अनाज खरीदना होगा। बाकी 45 प्रतिशत बाजार में उपलब्ध रहेगा।

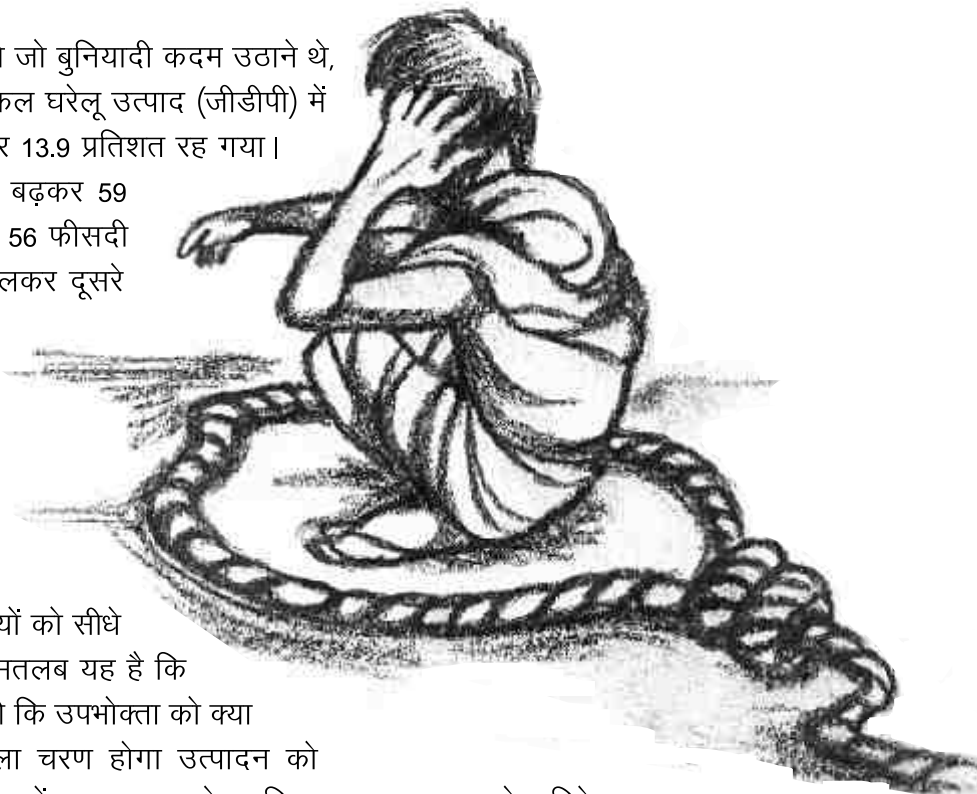
आर्थिक सर्वेक्षण 2012 के अनुसार 1961 में दालों की प्रति व्यक्ति देश में उपलब्धता 69 ग्राम प्रतिदिन थी, जो 2010-11 में घटकर 31.6 ग्राम प्रति व्यक्ति प्रतिदिन रह गयी। सरकार का इस ओर ध्यान नहीं है। ध्यान रहे कि बच्चों को प्रोटीन कम मिलने से उनकी बीमारियों से लड़ने की क्षमता कम हो जाती है। फिलहाल दालों का उत्पादन करने वाले केवल 16 प्रतिशत खेत सिंचित हैं। खाने का तेल भी लोगों की आसान पहुंच में नहीं है। हम आज भी अपनी जरूरत का लगभग 50 प्रतिशत खाने का तेल दूसरे देशों से मंगाते हैं। हमारे तिलहन उत्पादन का केवल 27.1 प्रतिशत क्षेत्र ही सिंचित है।

हम 1951 में 5 करोड़ टन अनाज उत्पादन कर रहे थे, जो अब पांच गुना बढ़ चुका है। फिर भी सरकार रोटी के मामले में ही हमें आंकड़ों की बाजीगरी दिखाती है। इस बात पर बिल्कुल यकीन नहीं किया जा सकता कि कृषि विहीन विकास देश में खाद्य सुरक्षा लाएगा।



आजादी के बाद 1961 में प्रति व्यक्ति अनाज की उपलब्धता 399.7 ग्राम थी। खुले बाजार की नीतियों को लागू करते समय भी उपलब्धता 468.5 ग्राम थी। लेकिन उसके बाद इसमें लगातार गिरावट होती रही या कोई वृद्धि ही नहीं हुई। वर्ष 2010—11 में देश में प्रति व्यक्ति अनाज की उपलब्धता 407 ग्राम प्रति व्यक्ति प्रतिदिन रही। यह किस तरह का विकास है, जिसमें हम खुद को वर्ष 1961 की स्थिति में ही खड़े हुए देखते हैं।

असल में खेती पर संकट को खत्म करने के लिए सरकार को जो बुनियादी कदम उठाने थे, उनसे वह हमेशा बचती रही है। वर्ष 1950—51 में देश के सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) में खेती का योगदान 53.1 प्रतिशत का था, जो 2012 में घटकर 13.9 प्रतिशत रह गया। इसके विपरीत सेवा का क्षेत्र जीडीपी के 30.3 प्रतिशत से बढ़कर 59 प्रतिशत हो गया। सरकार का मानना है कि अभी देश की 56 फीसदी जनसंख्या खेती पर निर्भर है। हमें लोगों को कृषि से निकालकर दूसरे क्षेत्रों में लेकर जाना है। मकसद यह भी है कि बड़ी बहुराष्ट्रीय कम्पनियां और कारपोरेट घराने हजारों हेक्टेयर जमीन के मालिक बनकर खेती का व्यापार करें। इसके लिए किसानों के सामने बदहाली के हालात खड़े करने होंगे। यही कारण है कि भारत में अभी भी हर आधे घंटे में एक किसान आत्महत्या कर रहा है।



अब सरकार ने खुदरा और किराना बाजार में विदेशी कम्पनियों को सीधे निवेश करने की अनुमति देने की नीति बना ली है। इसका मतलब यह है कि जो कम्पनी खुदरा बाजार में आ कर बैठेगी, वही तय भी करेगी कि उपभोक्ता को क्या बेचा जाये। वह हमारे व्यवहार को प्रभावित करेगी। अगला चरण होगा उत्पादन को प्रभावित करना। जो बेचा जायेगा वही पैदा भी करवाना। भारत में लगभग 5 करोड़ परिवार खुदरा व्यापार के जरिये 20 करोड़ किसान परिवारों के साथ सामंजस्य रखकर बाजार चलाते हैं। अब विदेशी और विशालकाय कम्पनियां यह तय करेंगी कि क्या बिकेगा और क्या उगेगा ?



कुपोषण बड़ा होता जाता है ...

अगला सवाल यह कि कुपोषण अचानक कैसे हो जाता है?

अचानक!!!

अचानक नहीं दोस्तों, ये तो धीरे-धीरे होता है। जब शरीर को लगातार जरूरी पोषण नहीं मिलता तो वह कुपोषित होने लगता है। वैसे इसके तीन स्पष्ट कारण हैं—1. बच्चों को सही और पूरा खाना न मिलना 2. बीमारी होना जैसे बुखार, निमोनिया, उल्टी—दस्त और 3. सही देखभाल और निगरानी का अभाव। तीनों ऐसे कारण हैं जो गरीबी, अज्ञानता और भेदभाव — किसी से भी हो सकते हैं।



यह ठीक से समझ आ जाए तो हम बच्चों को कुपोषण से बचा सकते हैं। महिला के गर्भ धारण करते ही उसे पूरा और पोषणयुक्त खाना मिलना चाहिए, अन्यथा महिला और गर्भस्थ शिशु दोनों की जान को खतरा हो सकता है। सही आहार नहीं मिलने से बच्चे का शरीर और दिमाग विकसित नहीं हो पाता। जन्म के समय बच्चे का वजन कम से कम ढाई किलो होना चाहिए। इससे कम वजन का मतलब है कि वह जन्म से कुपोषित है। तो इसका क्या कोई उपाय नहीं?

इलाज है। जन्म के बाद शुरुआती छह माह में बच्चे को सिर्फ मां का दूध ही देना चाहिए। पर हमारे यहां तो बच्चे के पैदा होते ही उसे शहद या घुट्टी चटाने का रिवाज है।

पर यह बच्चे के लिए ठीक नहीं है। पैदा होते ही बच्चे को मां का गाढ़ा पीला दूध ही पिलाना चाहिए। कई लोग इसे फेंक देते हैं, कुछ नहीं फेंकते। शहद चटाना, घुट्टी पिलाना या पानी पिलाने से बच्चे को संक्रमण हो सकता है, जो उसके लिए खतरनाक है।

ककहरा कुपोषण का



शुरुआती 6 महीनों में तो सिर्फ और सिर्फ मां का दूध ही देना चाहिए। वही बच्चे का पूरा खाना भी है और दवा भी।

और अगर बच्चा जन्म से कुपोषित न हो तो?

बच्चा जन्म से कुपोषित भले न हो, पर इसका मतलब ये नहीं है कि हम उसके खान-पान को अनदेखा करें। अगर शुरुआत से ही बच्चे का खानपान अच्छा रहा तो वह कभी कुपोषित होगा ही नहीं।

बच्चों को छह माह के बाद मां के दूध के अलावा और क्या दे सकते हैं?

छह महीने के बाद बच्चे का खाना होता है नरम, पतला और आसानी से गले में उतरने वाला भोजन, जो पचाने में आसान हो। जैसे पतली दाल, पतला चावल, पतली सब्जी जैसी चीजें उसे खिलाई जाती हैं। नौ महीने की उम्र तक ऐसे ही चलता है। धीरे-धीरे वह दाल-रोटी-चावल-फल-सब्जी खाने लगता है। सालभर का होने तक वह हमारे-आपके जैसा खाना खाने लगता है। एक साल की उम्र में तो वह हमारे खुराक का आधा हिस्सा खाने लगता है। बच्चे को अगर दो साल की उम्र तक पूरा पोषणयुक्त भोजन न मिले तो उनका 80 प्रतिशत शारीरिक और मानसिक विकास रुक जाता है। भोजन के साथ ही जुड़ी रहती हैं, स्वास्थ्य और देखभाल की जरूरतें। अगर ये जरूरतें लगातार अधूरी रहें तो बच्चा कुपोषित हो जाएगा।

यानि बच्चे को भूखा नहीं रखना है। सिर्फ खाना खिलाना ही जरूरी नहीं, बल्कि ये भी देखना चाहिए कि वह जो रोज खाता है, वह कई अलग-अलग रंगों का हो। दूध सफेद है, बथुआ और चने की भाजी, पालक हरी है, पपीता पीला है, टमाटर लाल है, मूंगफली गुलाबी है, दाल काली और पीली भी होती है। बच्चों के खाने में जितने ज्यादा रंग होंगे, उतनी ही विविधता वाला पोषण होगा।



ककहरा कुपोषण का



पहले तो हमने कभी कुपोषण से बच्चों को मरते नहीं देखा तो अचानक बच्चे भूख से क्यों बीमार हो रहे हैं?

पहले जिस तरह का खाना हम खाते थे, उससे सभी पोषक तत्व मिल जाते थे। जैसे-जैसे परिस्थितियां बदलीं खाने की चीजें भी बदलती गयीं।

हम ऐसा क्या खाते थे, जिससे बच्चे बीमार नहीं पड़ते थे?

पहले लोग बाजरा अधिक खाते थे, जिसमें प्रोटीन और आयरन ज्यादा मिलता है। पहले सांवा, रागी, काकुम, कोदो-कुटकी खाते थे, जिसमें प्रोटीन, रेशा (फाइबर) और आयरन बहुत अधिक होता है। लोग कंद-मूल भी खाते थे, जिसमें बहुत ज्यादा कैलोरी और कैल्शियम होता है। पत्तेदार सब्जियां यदाकदा खाई जाती थीं, जैसे चौलाई और मूली के पत्ते। इनमें भरपूर कैलोरी, आयरन और विटामिन मिलता है। इतना पौष्टिक खाने पर कोई कुपोषित और बीमार क्यों होगा?

तो अचानक लोगों ने इसे खाना बंद क्यों कर दिया?

अचानक कहाँ। जैसे-जैसे गेहूं और सोयाबीन सरीखी नकदी फसलों का चलन बढ़ता गया, पहले उगाई जाने वाली फसलें अपने आप ही कम होती चली गईं। परंपरागत फसलों को उगाने में न तो ज्यादा लागत लगती है और न ही अधिक पानी लगता है। फिर भी कई इलाकों में इन्हें न के बराबर उगाया जाता है। अभी भी कुछ लोग इन्हें उगाते हैं, पर उनकी संख्या बहुत कम है।

अगर हम इन परंपरागत फसलों को उगाएं और पहले जैसा खाना खाएं तो कुपोषण से बच सकते हैं?

बिलकुल। इस तरह का भोजन खाने से सभी स्वस्थ रहेंगे और बच्चों का विकास भी अच्छी तरह होगा।

ये बताइए कि हमने जितने बच्चों की मौत के बारे में सुना है, वो सब किसी बीमारी के कारण ही हुई है।

बच्चे जब बीमार होते हैं तो इसका मतलब होता है — बुखार, सर्दी-जुकाम, मलेरिया, खांसी, सांस चलना-निमोनिया, खसरा और दस्त लगना। बीमारी कोई भी हो, बच्चा कमजोर होता ही है न— वहां कुपोषण कहाँ है? एक तो बीमारी उसके शरीर को कमजोर करती है, वहीं दूसरी और पर्याप्त पोषक भोजन न मिलने से बीमारियों से लड़ने की उसकी ताकत खत्म हो जाती है। बची-खुची कसर बीमारी पूरी कर देती है। बीमारियों के कारण उसकी भूख भी खत्म हो जाती है। उसका शरीर खाना खाने और पचाने की क्षमता खो देता है। खाना शरीर को



लगता नहीं है। यानी अगर बच्चे की जन्म से सही देखभाल न की जाये तो उसके शरीर की ताकत कम हो जायेगी और उसे बीमारियां हो सकती हैं।

बीमारी हमेशा इस ताक में रहती है कि कब बच्चे का शरीर कमजोर हो और वह हमला कर दे।

तो ऐसे समय क्या करना चाहिए?

बच्चा अगर बार—बार बीमार पड़ रहा है तो इसका मतलब है कि उसका शरीर कमजोर हो रहा है। वह बीमारी से लड़ नहीं पा रहा है। उसकी भूख कम हो जाती है। तब उसे कुछ खास तरह का हल्का, पोषण युक्त भोजन मिलना चाहिए। यदि वह नहीं मिल पाता है तो कुपोषण अपना जाल बिछा देता है। पूरा खाना नहीं मिलने से बार—बार बीमार होने का चक्र चलता है, बच्चा कुपोषित होता जाता है। दूसरी तरफ यदि बच्चा कम खाना मिलने से कुपोषित होता है तो वह फिर बार—बार बीमार भी पड़ता है।

पर हमारे यहां तो बच्चों का सभी बहुत ध्यान रखते हैं....

हां, पर क्या हम उनके स्वास्थ्य और विकास पर ध्यान देते हैं? खाना तो बहुत अच्छा है। लेकिन जिन हाथों से वह खा रहा है, अगर वे साफ नहीं हैं, तब भी बीमारी के लिए रास्ते खोल ही रहे हैं न! ज्यादातर मामलों में बच्चों को बीमारी की शुरुआती स्थिति में इलाज नहीं मिलता है। इसी कारण मामूली खांसी या बुखार उनकी जान ले लेता है।

तो क्या करना चाहिए?

ये बताइए कि क्या हमेशा बीमार होने के बाद ही देखभाल शुरू होना चाहिए?

बिलकुल नहीं!! देखभाल का मतलब है कुछ बातों के हमेशा ध्यान रखना। जैसे बच्चों के वजन और लंबाई में बढ़ोतरी पर नजर रखना। पांच साल तक बच्चे का वजन और लंबाई बढ़ते रहना चाहिए। सभी आंगनवाड़ी में हर माह बच्चों का वजन और लम्बाई इसीलिए मापी जाती है। इससे पता



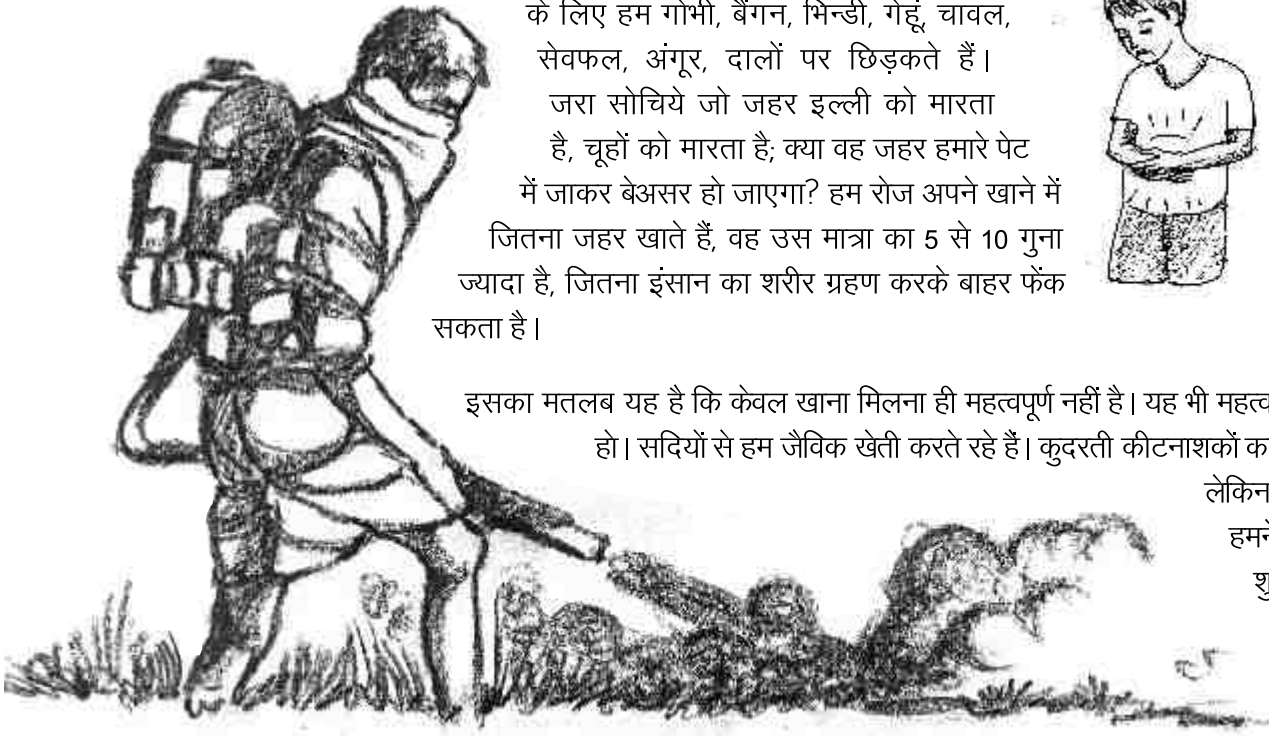
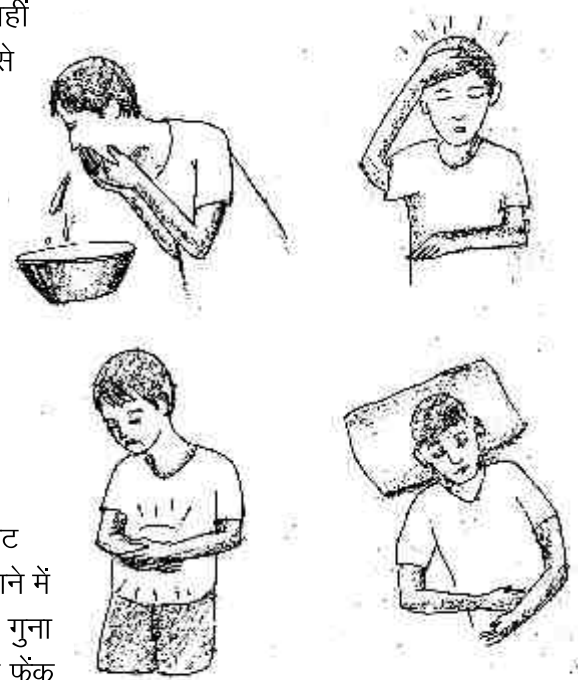
चलता है कि बच्चे का सही विकास हो रहा है या नहीं। दवा ही हर बीमारी का इलाज नहीं है। कई ऐसे घरेलू इलाज भी होते हैं, जिनसे बच्चों की स्थिति सुधर सकती है— जैसे बच्चे को दस्त लगने पर उसे नमक-शकर का घोल पिलाना, पतली दाल, छाछ देना, चावल का मांड (पेज) देना।

भरपेट खाना मिल भी जाए तो इसका यह मतलब नहीं कि हम स्वस्थ रहेंगे। आंध्र प्रदेश में खेती और खाद्य सुरक्षा पर काम कर रहे रामू जी कहते हैं, कि हमारे खाने में 18 तरीके के जहरीले कीटनाशक तत्व मौजूद होते हैं। फसल में कीड़ों को मारने के लिए हम गोभी, बैंगन, भिन्डी, गेहूं, चावल, सेवफल, अंगूर, दालों पर छिड़कते हैं।

जरा सोचिये जो जहर इल्ली को मारता है, चूहों को मारता है, क्या वह जहर हमारे पेट में जाकर बेअसर हो जाएगा? हम रोज अपने खाने में जितना जहर खाते हैं, वह उस मात्रा का 5 से 10 गुना ज्यादा है, जितना इंसान का शरीर ग्रहण करके बाहर फेंक सकता है।

इसका मतलब यह है कि केवल खाना मिलना ही महत्वपूर्ण नहीं है। यह भी महत्वपूर्ण है कि वह साफ और सुरक्षित हो। सदियों से हम जैविक खेती करते रहे हैं। कुदरती कीटनाशकों का उपयोग होने से यह सुरक्षित है।

लेकिन ज्यादा उत्पादन के लालच में हमने खतरनाक रसायनों का उपयोग शुरू किया। इनसे लीवर, किडनी खराब होती है, साथ ही कैंसर जैसे रोग बढ़ रहे हैं।



ककहरा कुपोषण का



फिर भी क्यों बना रहता है कुपोषण ?

मनोज और अजय पिछले 10 साल से एक सामाजिक संस्था के साथ मिलकर सहरिया समुदाय के बीच काम कर रहे हैं। मकसद बहुत साफ है — बच्चों को भुखमरी के जाल से हमेशा के लिए बाहर निकालना। दोनों आजकल दुविधा में हैं। शुरुआत में उनकी कोशिश थी कि गांव की आंगनवाड़ी अच्छे से काम करे, ताकि बच्चों को बेहतर सेवाएं मिल सकें।

उन्होंने तीन महीने तक 40 गांवों में जाकर हर बच्चे का वजन लिया, पता किया कि कौन सा बच्चा कुपोषित है। इन्होंने 1320 बच्चों के बारे में जानकारी ली। सूची बनाई कि किस बच्चे की क्या स्थिति है।

उन्हें पता चला कि 419 बच्चे ऐसे हैं, जिनका वजन बहुत कम है और उन्हें खास देखभाल की जरूरत है।

खास देखभाल का मतलब है— बच्चे को ऐसा भोजन मिले, जिसकी मात्रा कम हो पर उसमें पोषक तत्व ज्यादा हों। जो बच्चे ज्यादा कुपोषित या बहुत कम वजन के होते हैं, वे एक बार में अधिक नहीं खा पाते। उनकी भूख मर जाती है, जी मिचलाता है। वे खाना आसानी से पचा नहीं पाते हैं।

उन्होंने यह भी देखा कि इन 419 बच्चों में से 69 ऐसे हैं, जो कम वजन के होने के साथ ही सर्दी—खांसी, बुखार से पीड़ित हैं। कुछ बच्चों को



छाती का संक्रमण है और उनकी सांस तेज चलने लगती है। 21 बच्चों को डायरिया भी था। इसका मतलब यह है कि इन बच्चों को विशेष स्वास्थ्य सेवाओं की जरूरत थी। उन्हें पोषण पुनर्वास केंद्र या फिर अस्पताल में भर्ती करना जरूरी था। इन केंद्रों में उन्हें खासतौर पर बना खाना (केवल दवा ही नहीं) खिलाया जाता है, साथ में बीमारी (बुखार, दस्त, संक्रमण) को ठीक करने के लिए दवाएं भी दी जाती है। यहां आकर बच्चों का वजन बढ़ना चाहिए।

मनोज और अजय प्रशासन के पास गए और उन्हें बताया कि 419 बच्चों पर ध्यान देने की जरूरत है। मामला गंभीर था, इसलिए प्रशासन ने कार्रवाई की। बाल विकास परियोजना अधिकारी और उनके कार्यकर्ता सूची लेकर गांव पहुंचे और उन सहरिया परिवारों को अपने बच्चों के साथ अस्पताल और पोषण पुनर्वास केंद्र चलने को कहा। गंभीर रूप से कुपोषित 69 बच्चों में से 29 के परिजन अपने बच्चों को पोषण पुनर्वास केंद्र ले गए। वहां पहुंचने के 1-2 दिन बाद उनके साथ अच्छा बर्ताव नहीं किया गया। जो खाना बच्चों को खिलाया जा रहा था, वह गुणवत्तापूर्ण नहीं था। केंद्र में डॉक्टर की जगह नर्स आकर बच्चों की जांच कर रही थी। केंद्र में बहुत बदबू और सीलन थी। आदिवासी झोपड़ी में रहते हैं, पर गंदगी में नहीं। आखिरकार लोग निराश होकर बच्चों के साथ वापस लौटने लगे।

इन 29 परिवारों के अलावा बाकी बचे 40 बच्चों को पोषण पुनर्वास केंद्र तक लाया ही नहीं जा सका। प्रशासन ने उन पर केंद्र तक चलने का दबाव भी डाला, पर लोग न माने। तब अधिकारियों ने सहरिया परिवारों से लिखवा लिया कि वे अपनी मर्जी से बच्चों को पोषण केंद्र नहीं ले जा रहे हैं और यदि बच्चों को कुछ हो गया तो प्रशासन जिम्मेदार नहीं होगा। सरकार अपनी जिम्मेदारी से मुक्त हो गई और समुदाय भी। मरने के लिए रह गए बच्चे। अगले 2 माह में इनमें से 19 बच्चों की



मृत्यु हो गयी।

मनोज और उनके साथी कार्यकर्ताओं ने सहरिया समुदाय से पूछा कि वे बच्चों को पोषण पुनर्वास केंद्र क्यों नहीं ले जाना चाहते? जो गए थे, उन्होंने बताया कि केंद्र में दुर्व्यवहार होता है, गंदगी भी रहती है, सही इलाज नहीं होता। जो केंद्र नहीं गए, उन्होंने कहा— हमें यह बताया गया कि वहां कम से कम 15 दिन रहना पड़ेगा, दवाएं भी लेनी पड़ेंगी। हमारे घर पर 3 बच्चे और हैं, बुजुर्ग हैं। हम एक भी दिन की मजदूरी छोड़ दें तो दूसरे लोग भूखे रह जाएंगे। कुछ और बचा नहीं है, 2-3 बकरियां हैं। उन्हें कौन रखता। हम नहीं चाहते कि हमारे बच्चे मर जाएं, पर बहुत बुरे फंसे हैं।



मनोज बताते हैं कि प्रशासन का मंशा अभी भी ईमानदार नहीं है। लोग पोषण पुनर्वास केंद्र जा सकते हैं। लेकिन जब वो जाते हैं तो बच्चों को जमीन पर दरी डाल कर रखा जाता है। जिस केंद्र में बच्चों को भेजा जाता है, वहां 10 बच्चों से ज्यादा नहीं रह सकते। यदि पूरे 69 परिवार अपने बच्चों को पोषण केंद्र ले जाने का तैयार हो भी जाएं तो उन्हें कहां रखेंगे?

क्या ऐसा नहीं हो सकता कि गांव में ही पोषण पुनर्वास केंद्र बन जाए ! जिन बच्चों को दवाइयां चाहिए, उनकी एएनएम आकर जांच कर ले। हम गांव में ही ऐसे कार्यकर्ता तैयार कर लें, जो गुणवत्ता मूलक पोषण आहार बना सकें और सही तरीके से बच्चों को खिला सकें। इससे मजदूरी पर जाने वाले लोग आसानी से अपने बच्चों को वहां छोड़ कर जा सकते हैं और शाम को काम से वापस आकर अपने साथ घर ले जा सकते हैं।

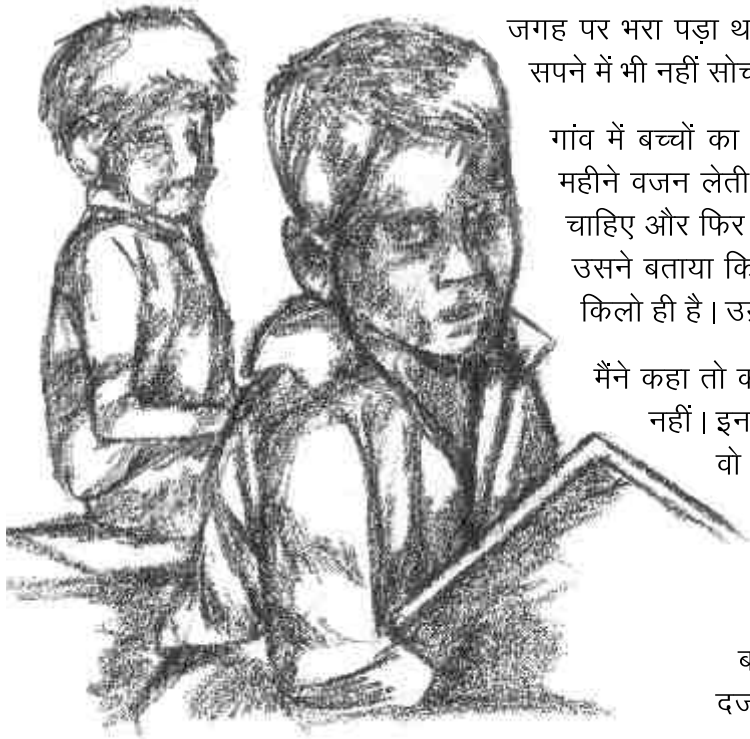
ज्यादा बीमार बच्चों को अस्पताल ले जाना ही पड़ेगा। बाकी के बहुत कम वजन के बच्चों की गांव में ही देखभाल हो सकेगी। पोषण केंद्र से वापस आने के बाद भी तो बच्चों को खास देखभाल चाहिए होगी। यह भी गांव के पोषण पुनर्वास केंद्र में ही हो सकेगी। यदि अपना आंगनवाड़ी केंद्र ही दिनभर चलने लगे तो बहुत सी समस्याएं हल हो जाएंगी।

अजय ने कहा कि सरकार सिर्फ उन्हीं बच्चों को खोजती है, जिनकी लिस्ट संस्था वाले देते हैं। यह तो हर गांव का संकट है। समुदाय के स्तर पर एक केंद्र हो सकता है, जहां काम पर जाने वाले लोग अपने बच्चों को छोड़ सकें। शहरों में कामकाजी परिवारों के लिए झूलाघर चलते हैं। गांव के मजदूर भी तो कामकाजी हैं। क्या उनके लिए यह इंतजाम सिर्फ इसलिए नहीं होना चाहिए, क्योंकि वे पैसा नहीं दे सकते हैं!



कुपोषण को पहचानेंगे कैसे ?

बरको बाई कहती हैं कि बैगा बच्चे दुबले—पतले नहीं होते थे। महिला के गर्भवती होने पर उसे रागी खिलाते थे (रागी में खूब कैल्शियम होता है)। इससे जचकी के बाद कभी भी मां को कमजोरी नहीं आती थी। कोदो भी इंसान को मजबूत बनाती है। खाना ही तो हमें सम्मान से जीने की ताकत भी देता था। हम घर में ही खाना भरके थोड़े रखते थे। वह तो धरती, जंगल, पानी, हर जगह पर भरा पड़ा था। हम उसे इकट्ठा क्यों करते। हमें भूखा रहना होगा, यह तो हमने सपने में भी नहीं सोचा था।



गांव में बच्चों का एक आफिस है। उसमें नन्ही बाई काम करती है। वह बच्चों का हर महीने वजन लेती है और बताती है कि जन्म के समय बच्चे का वजन ढाई किलो होना चाहिए और फिर इसके बाद हर महीने बच्चे का वजन 600 से 800 ग्राम बढ़ना चाहिए। उसने बताया कि गांव में 10 बच्चों की उम्र दो साल से ज्यादा है, परन्तु वजन 8 या 9 किलो ही है। उम्र के हिसाब से उनका वजन 12 किलो होना चाहिए।

मैंने कहा तो क्या हुआ? खा—पीकर फिर मोटे हो जाएंगे। लेकिन बरको बाई ने कहा नहीं। इनका वजन कम होना ही नहीं चाहिए। इससे उन्हें बीमारियां होती हैं और वो बाद में जंगल में जाकर काम नहीं कर पायेंगे। मछलियां नहीं पकड़ पायेंगे, कमजोरी आएगी और तो और उनका दिमाग भी मजबूत नहीं हो पायेगा। खाना कम मिलेगा तो बच्चे कमजोर होंगे और यह कमजोरी पूरी नस्ल को कमजोर बनाएगी।

बच्चे स्वस्थ रहें, इसके लिए जरूरी है कि बच्चे का नाम आंगनवाड़ी में दर्ज हो और उनके शारीरिक और मानसिक विकास की निगरानी ठीक तरह

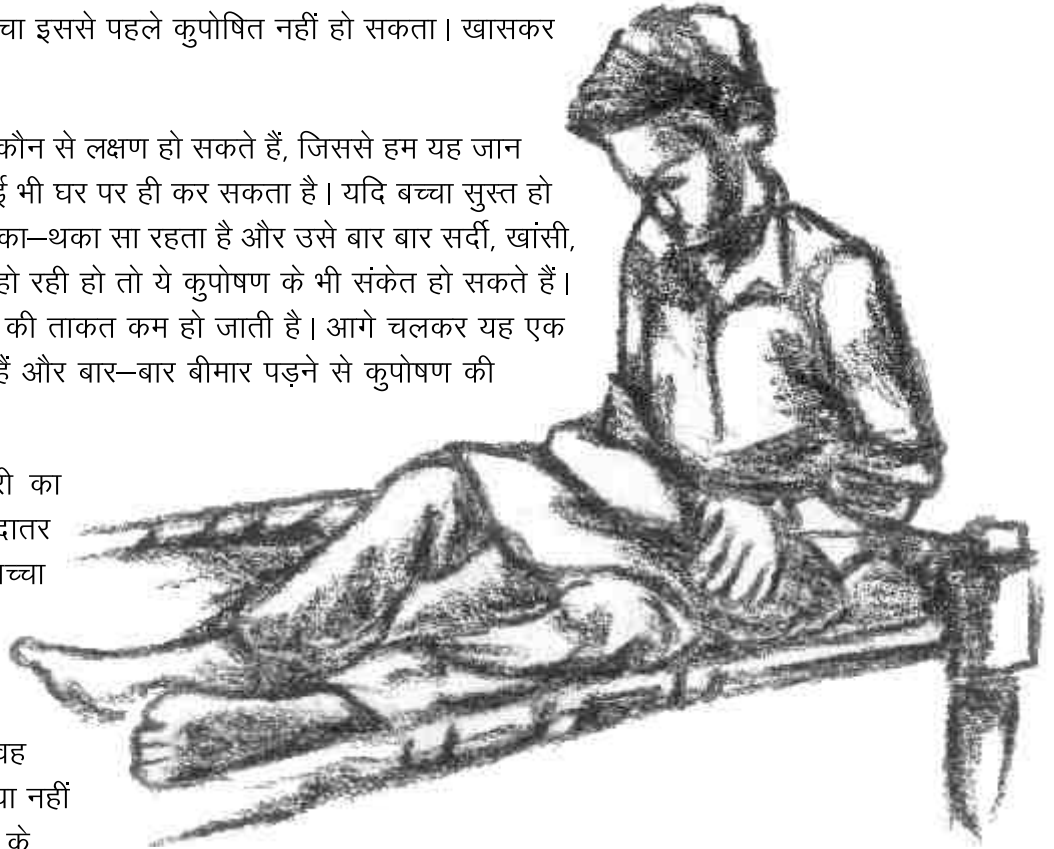


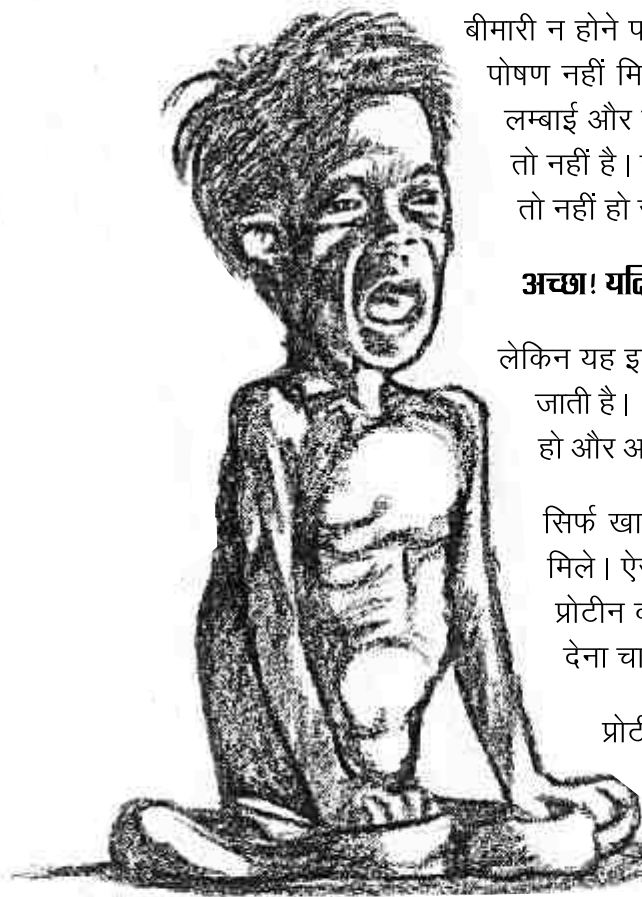
से हो सके।

ये तो आपको पता ही होगा कि बच्चों में कुपोषण का मुख्य कारण भोजन में प्रोटीन की कमी या फिर उर्जा तथा प्रोटीन दोनों की ही कमी का होना है। इसका पता बच्चों में छह माह की उम्र के बाद से ही चल सकता है। लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि बच्चा इससे पहले कुपोषित नहीं हो सकता। खासकर अगर बच्चे को स्तनपान न कराया जा रहा हो तो।

यह भी देखना होगा कि छह माह बाद कुपोषण के कौन से लक्षण हो सकते हैं, जिससे हम यह जान पाएं कि बच्चा कुपोषित है या नहीं? यह जांच कोई भी घर पर ही कर सकता है। यदि बच्चा सुस्त हो रहा हो, खेलता न हो, लुंज-पुंज हो हो, या फिर थका-थका सा रहता है और उसे बार बार सर्दी, खांसी, सांस फूलने, दस्त लगने या बुखार की शिकायत हो रही हो तो ये कुपोषण के भी संकेत हो सकते हैं। कम पोषण मिलने से बच्चे की बीमारियों से लड़ने की ताकत कम हो जाती है। आगे चलकर यह एक सिलसिला बन जाता है। बीमारियां घेरने लगती हैं और बार-बार बीमार पड़ने से कुपोषण की जड़ें और गहरी होती जाती हैं।

यह भी ध्यान देने की जरूरत है कि हर बीमारी का कारण कुपोषण नहीं है। पर हां, बच्चों की ज्यादातर बीमारियों का कारण कुपोषण है। जरूरी नहीं कि बच्चा बीमार ही पड़ेगा। यदि उसकी चमड़ी सूखी-सूखी सी हो रही है, उस पर झुर्रियां पड़ रही हैं, बाल रुखे, भूरे हो रहे हैं या झड़ने लगे हैं, शरीर पर लाल-भूरे से चकत्ते हो रहे हैं, या वह आपकी या अपने दोस्तों की बात पर कोई प्रतिक्रिया नहीं देता है, उनके साथ खेलता नहीं है तो बच्चे के कुपोषण की आशंका जताई जा सकती है।





बीमारी न होने पर भी अगर बच्चा चिड़चिड़ाते या ज्यादा रोने लगे तो समझ लें उसे भरपूर भोजन यानी पूरा पोषण नहीं मिल रहा है। इस कारण भी बच्चे ऐसा बर्ताव करते हैं। हमें यह देखना चाहिए कि बच्चे की लम्बाई और वजन में बढ़ोत्तरी हो रही है या नहीं। कहीं उसका पेट तो नहीं फूल रहा है। वह कंपकंपाता तो नहीं है। उसकी पसलियां तो नजर नहीं आ रही हैं। इससे पता चल जाता है कि कहीं बच्चा कुपोषित तो नहीं हो रहा है?

अच्छा! यदि ये सब हो रहा है तो बच्चे को खूब खिलाना चाहिए। है न!

लेकिन यह इतना आसान नहीं है। कुपोषित बच्चे की खाने से अरुचि हो जाती है। उसकी पाचन क्षमता कम हो जाती है। इसलिए जरूरी नहीं है कि वह खूब खाए। हमें उसे ऐसा खाना देना चाहिए, जो पचाने में आसान हो और आसानी से खाया भी जा सके।

सिर्फ खाना खिलाने से नहीं चलेगा। ये भी देखना पड़ेगा कि बच्चे को समुचित प्रोटीनयुक्त आहार मिले। ऐसा नहीं हुआ तो बच्चे का शरीर कमजोर रह जाएगा। एक साल से ज्यादा उम्र के बच्चों में प्रोटीन की कमी माता-पिता की अज्ञानता का परिणाम है। उन्हें पता ही नहीं होता कि बच्चे को क्या देना चाहिए।

प्रोटीन की कमी के लक्षण बच्चों में सूजन के रूप में दिखाई देते हैं। मां-बाप इसे स्वस्थता की निशानी समझते हैं। ऊपरी मध्य बांह को फीते से नापने पर वे स्वस्थ श्रेणी में आते हैं, जबकि प्रोटीन और उर्जा दोनों की कमी वाले बच्चे बहुत दुबले और उम्र से ज्यादा बड़ा दिखाई देते हैं।

सूजन कुपोषण का एक मुख्य कारण है। यह देखने के लिए कि सूजन वाला बच्चा कुपोषित है, सूजन वाले स्थान पर 3 सेकण्ड तक हाथ के अंगूठे से दबाया जाता है। तीन सेकण्ड गिनने के लिए घड़ी की जरूरत नहीं है। बस 1001, 1002, 1003 गिनने पर तीन सेकण्ड हो जाते हैं। अंगूठा हटाने पर उस स्थान पर गड्ढा बन जाता है। जो बहुत धीरे-धीरे सामान्य स्थिति में आता है। और फीता कुपोषण मापने का एक जरिया है। इससे बच्चे की बांह मापते हैं। जो बच्चा लाल रंग के घेरे में आता है, वह कुपोषित होता है। पीले वाला मध्य और हरे रंग वाला बच्चा स्वस्थ कहलाता है।

ककहरा कुपोषण का



कुपोषण का असर

अब ये भी देखना होगा कि कुपोषण के गहरे असर क्या क्या होते हैं। कुपोषण तो पूरी जिन्दगी को चपेटे में ले सकता है। अच्छा इसे यूँ समझते हैं। अपने गांव में 4—5 जाति और समुदाय के लोग रहते हैं न। इनमें से आदिवासी समुदाय के छज्जू और कमला का भी स्कूल में दाखिला हुआ। पर एक साल बाद ही दोनों ने स्कूल छोड़ दिया। मास्टर जी कहते हैं कि वे कुछ याद करके नहीं आते थे और न ही छोटे-छोटे सवालों का जवाब दे पाते थे।

अब देखो, अपने गांव में 21 बच्चे कुपोषित हैं। इनमें से 13 तो आदिवासी समुदाय के ही हैं, जबकि 5 दलित समुदाय के। कुपोषण के कारण इन बच्चों का मानसिक विकास नहीं हो पाया, जिससे ये गणित का जोड़-घटाव नहीं कर पाते हैं। पाठ याद नहीं रख पाते। स्कूल वाले इसे समझ नहीं पाते हैं। वे उम्मीद करते हैं कि कुपोषण के चक्र में रहे बच्चे भी अपना सबक वैसे ही याद कर पायेंगे जैसे दूसरे बच्चे करते हैं। कुपोषण के कारण बच्चे विकलांग भी हो जाते हैं। वे तेज दौड़ नहीं पाते, जल्दी थक जाते हैं।



और तो और जो बच्चे कुपोषित नहीं होते, अगर उन्हें दस्त लग जाएं, या फिर निमोनिया या खसरा हो जाए तो 100 में से एक बच्चे के मरने की आशंका होगी। पर यदि कुपोषित बच्चों को ये बीमारियां हो जाएं तो 100 में 20 बच्चों के मरने की आशंका रहती है। अब चूंकि अपने गांव के आसपास प्राथमिक स्वास्थ्य सेवाएं बहुत अच्छी नहीं हैं, इसलिए भी कई बच्चों को हम मरने से बचा नहीं पाते हैं।

कुपोषण के प्रकार

ये पता लगाने के लिए कि कोई बच्चा कुपोषित है या नहीं, या फिर कौन सा बच्चा कितना कुपोषित है बच्चे का वजन और उसकी उम्र का चार्ट नियमित तौर से भरना जरूरी है। इसकी नियमित तौर पर निगरानी करने से पता चलेगा कि बच्चा अगर कुपोषित है तो वह कुपोषण की किस श्रेणी में आता है।

कुपोषण की केवल तीन श्रेणियां हैं— सामान्य, कम वजन और बहुत कम वजन। दूसरे शब्दों में कहें तो सामान्य, मध्यम श्रेणी का कुपोषण तथा गंभीर कुपोषण। ये दोनों श्रेणियां लड़कों और लड़कियों में अलग— अलग होती हैं। इसे हम आंगनवाड़ी में बच्चे का वजन लेकर उसे वृद्धि चार्ट पर देखकर बता सकते हैं। अगर घर में ही यह पता लगाना हो तो बच्चे को देखकर भी ये पता लगाया जा सकता है कि बच्चा किस श्रेणी के कुपोषण का शिकार है।

1. अगर बच्चे के पैर पर (घुटने के नीचे) सूजन हो या उसके बाल सुनहरे होना शुरू हो गए, उसे बहुत सुस्ती आ रही हो, थकान लगना, सूखी त्वचा, वजन कम हो रहा हो, खांसी—बुखार हो ये सब माध्यम कुपोषण के लक्षण हैं।
2. अगर बच्चा गंभीर कुपोषित है तो इन सारे लक्षणों के साथ ही उसकी पसलियां साफ—साफ दिखाई देंगी, बाल रूखे और कम हो जाएंगे। त्वचा पर झुर्रियां आना सभी गंभीर कुपोषण के लक्षण हैं।

इसलिए शुरुआत से बच्चे की देखभाल करना बहुत जरूरी है।



कुपोषण से कैसे निपटें?

कुपोषण के लक्षण और श्रेणी जानने के बाद जरूरी है इससे निपटना। बच्चा कुपोषण की जिस श्रेणी में आता है, उसका उपचार भी उसी के अनुसार किया जायेगा।



यदि बच्चा मध्यम कुपोषित है तो सबसे पहले तो उसे नमक-शकर का पानी, पतली दाल, छाछ, चावल का मांढ (पेज) लगातार देते रहो। जब थोड़ा ठीक लगे और दस्त लगने बंद हो जाएं तो उसे नरम पतला और आसानी से गले में उतरने वाला खाना दो, जो पचने में आसान हो। जैसे पतली दाल, पतला चावल, पतली सब्जी, ये सब खिलाओ।

पर ये ध्यान रहे कि बच्चे की हालत सुधर रही हो तो ये सब चीजें रिवलाना कम या बंद मत कर देना।

यदि बच्चे में गंभीर कुपोषण के साथ ही उसमें किसी चिकित्सकीय जटिलता जै से खून की कमी हो, उल्टी हो रही हो, बच्चे के शरीर का तापमान कम हो, तेज बुखार हो, शरीर में पानी की कमी हो, शरीर पर गंभीर सूजन हो, निमोनिया हो गया हो तो उसकी जांच कर देखभालकर्ता से भी इस बारे में पूछें। ऐसे बच्चों को डॉक्टरों उपचार के लिए संदर्भित

ककहरा कुपोषण का



करें।

यदि बच्चे में कुपोषण के अतिरिक्त कोई चिकित्सकीय जटिलता न हो, उसे बराबर भूख लगती हो तो उसका उपचार घर पर ही किया जा सकता है। चिकित्सकीय जटिलता वाले गंभीर कुपोषित बच्चों को डॉक्टरों के लिए संदर्भित करना चाहिए।

पोषण पुनर्वास केन्द्र में बच्चे को 14 दिन रखकर उसके खाने-पीने पर ध्यान दिया जाता है। इस दौरान बच्चे की मां को साफ-सफाई, खाना पकाने और खिलाने का तरीका भी सिखाया जाता है। इन 14 दिनों में बच्चे के साथ मां के रहने से उनकी मजदूरी का नुकसान होता है। इसके एवज में मां को हर दिन भोजन के साथ 65 रु. की दर से भुगतान किया जाता है।

इस दौरान बच्चों को आटे या सूजी का हलवा खिला सकते हैं। इसे बनाना बहुत ही आसान है— जैसे कुपोषण के मिटाने के लिए सबसे अच्छा हथियार है हमारे घर का खाना।

एक कटोरी आटा लो। इसे घी या वनस्पति में हल्की आंच में हल्का भूरे रंग का होने तक पर सेंक लो। इसमें पानी मिलाओ और फिर गुड़ या शक्कर मिला दो। इसे तब तक पकाओ जब तक यह बर्तन में चिपकने न लगे। बस इसे ठंडा करो और बच्चे को खिलाओ।

इसी तरह से हम घर में दाल, चावल, सब्जियां, वनस्पति तेल या घी मिलाकर बढ़िया खिचड़ी भी बना सकते हैं। बस यह देखो कि हम बच्चों को थोड़ा-थोड़ा और बार-बार इसी तरह का खाना खिलाते रहें। इसमें गांव में या आसपास मिलने वाला अनाज, दालें, मूंगफली, खाने का तेल-घी, चना, गुड़, एक-दो फल, दूध या अंडा हर रोज के खाने में शामिल रहे। इस तरह का पौष्टिक खाना खाने से बच्चों के शरीर में प्रोटीन और उर्जा की जरूरत पूरी होती है और वे स्वस्थ हो जाते हैं। हो सकता है ये चीजें घर पर बच्चों को न मिल पायें, इसलिये जरूरी होगा कि हम अपने आंगनवाड़ी केन्द्र में ये प्रावधान करें।

फिर भी कुपोषण पर बात क्यों नहीं?

कुपोषण एक बड़ा संकट होने के साथ ही गंभीर समस्या भी है। इसका बुरा प्रभाव बच्चों के वर्तमान पर ही नहीं, बल्कि उनके भविष्य पर भी पड़ता है। यह उन्हें जीवनभर के लिए कमजोर बना देता है।

पर यह भी सही है कि इस समस्या पर बहुत बात नहीं होती है। समाज भी एक तरह से चुप ही है और सरकार इसके कारणों को पूरी तरह से



समझ नहीं पायी।

जिस तरह से समाज में बच्चों के कई जरूरी मुद्दों को नजरअंदाज कर दिया जाता है, उसी तरह बच्चों में पोषण की कमी को भी अनदेखा किया गया। गांव में जंगल, जमीन, पानी, स्थानीय रोजगार से चलने वाली व्यवस्था कमजोर हुई। अब जमीन को मकान बनाने, सड़क बनाने या व्यापार के लिए ज्यादा फायदेमंद माना जाता है।

इससे गांव में जो अलग अलग तरह की दालें, अनाज, भाजियां, सब्जी, दाने पैदा होते थे, उनकी पैदावार कम हो गयी है। पहले लोग बाजार से खरीदते नहीं, उगाते थे। इसलिए परिवार गरीबी के बावजूद भूखा नहीं रहता था।

अब वे उगाते कम हैं और ज्यादातर सामान बाजार से खरीदने के लिए मजबूर हैं। गरीबी के कारण वे केवल गेहूं या चावल ही खाते हैं। हमारी राशन व्यवस्था भी केवल गेहूं और चावल की ही बात करती है। इससे परिवारों को पूरा पोषण नहीं मिल पाता है, जिससे वे कुपोषित होते हैं।

यह सही है कि चूंकि गांव के लोग रोजगार की कमी से भी जूझ रहे हैं तो पूरा परिवार ही कम पोषण पा रहा है। इसका असर बच्चों पर सबसे पहले

पड़ता है। आंगनवाड़ी कार्यकर्ता बताती हैं कि बच्चों को उनकी उम्र के मुताबिक खाना मिलना चाहिए। आठ महीने का बच्चा वह खाना नहीं खा सकता, जो 10 साल का बच्चा खायेगा। आंगनवाड़ी कार्यकर्ता की बात मानने के लिए जरूरी है कि हमारे पास विकल्प तो हों। क्या हम तरह-तरह का खाना ला सकते हैं, बना सकते हैं? कुछ परिवार गरीबी के कारण ऐसा नहीं कर सकते तो कुछ परिवार बच्चों की अलग तरह की जरूरतों को समझ ही नहीं पाते हैं। ज्यादातर परिवार घर में जो बनता है, वही बच्चों को खिलाते हैं। अनाज की एक मोटी रोटी बच्चे के हाथ में होती है, जिसे वह अपनी लार से गीला करके चबाने की कोशिश करता रहता है।

शहर में मजदूरी करने वाली औरत को काम की जगह पर अपने छोटे बच्चे को दूध पिलाने का समय नहीं दिया जाता है। जब वह काम पर



जाती है तो सुबह कुछ रोटियां बना कर चार साल के बच्चे के लिए रख जाती है। शाम को बिस्कुट का एक छोटा पैकेट हाथ में रख देती है। ये गरीबी की स्थिति में भूख को छिपाने-बहलाने के तरीके हैं। रोटी और बिस्कुट से कुपोषण दूर नहीं होगा।

अब गांव में घर के आसपास वैसा भोजन नहीं मिलता, जो पहले हुआ करता था। अब खेत वही उगाते हैं, जो बाजार की मांग है। दाल उगने के बाद पहले बाजार में बिकने जायेगी, क्योंकि उससे 50 रुपए मिलेंगे। इस 50 रुपए से शायद पांच किलो सस्ता अनाज आ जाएगा, तो दाल क्यों खाएं! सरकार भी राशन की दुकान से सस्ती कीमत पर दाल नहीं देती है।

हमारे देश में आंगनवाड़ी की स्थापना वर्ष 1975 में हुई थी। सरकार को तभी पता था कि कुपोषण है और यह कई बच्चों की जान ले लेता है। आंगनवाड़ी केंद्र में बच्चों को पोषण आहार मिलना तो शुरू हुआ, पर यह कभी नहीं सोचा गया कि आखिर यह कुपोषण पैदा कहां से होता है। हमने समाज के व्यवहार और संसाधनों (खेती, कलाकारी, निर्माण की क्षमताएं, जंगल की उपज का जिम्मेदाराना उपयोग, पशुधन का उपयोग) के हाथ से छूटने के बारे में शायद सोचा ही नहीं। हम ज्यादातर निर्भर होते गए आंगनवाड़ी के पोषण आहार पर। यह जरूरी था और है भी, पर क्या यह परिवार के खाने का स्थान ले सकता है? हम यह भूल गए कि परिवार की भुखमरी को दूर किये बिना बच्चों के भुखमरी को पूरी तरह से मिटा पाना

असंभव है।

सरकार का कार्यक्रम चला भी, पर इसकी किसी ने निगरानी नहीं की। बच्चे न तो लड़ सकते थे और न ही शिकायत कर सकते थे। इसका फायदा कुछ लोगों ने उठाया और खूब भ्रष्टाचार किया। आखिर बच्चों तक उनका अधिकार पहुंचा नहीं।

आज भी बात यही है — सरकार और कंपनियों की आय बढ़ रही है, पर समाज में पोषण की असुरक्षा यानी भुखमरी बढ़ रही है। क्योंकि जहां से अच्छा खाना आता है, वे संसाधन छिन गए। दूसरी तरफ अब यह कुपोषण कमाई का भी साधन बन रहा है। कुपोषण पर अध्ययन के लिए

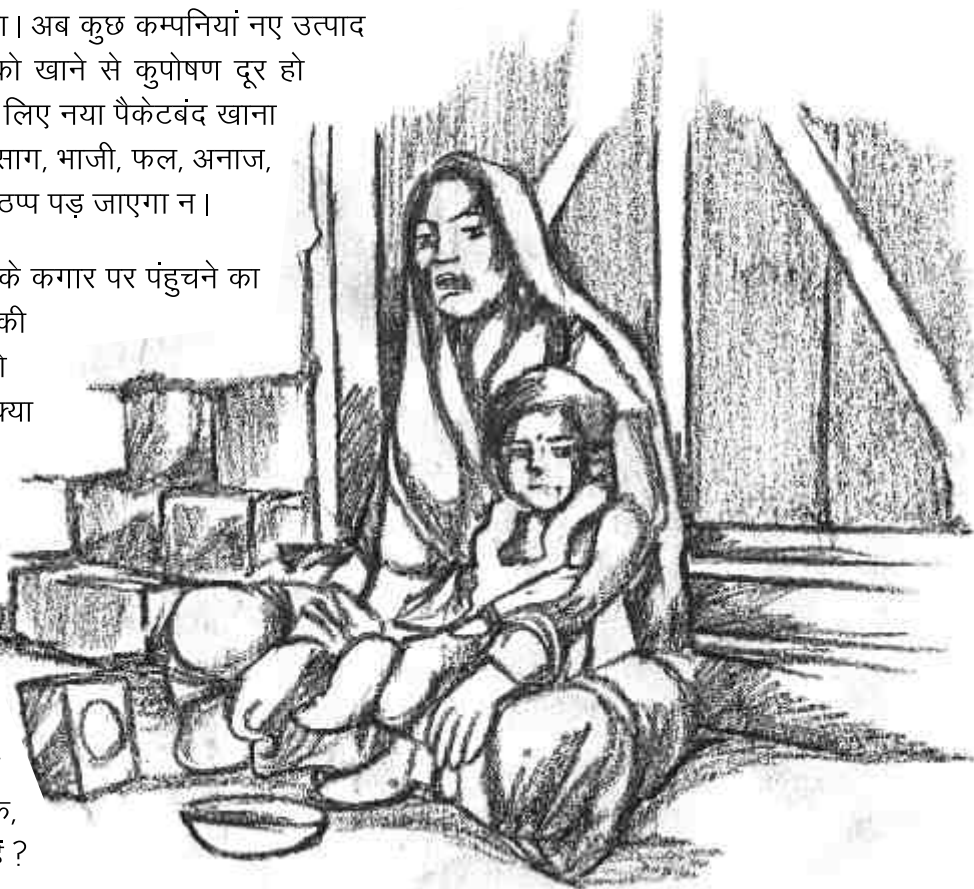


नए-नए संस्थान बन रहे हैं, पर कुपोषण कम नहीं हो रहा। अब कुछ कम्पनियां नए उत्पाद लेकर आ रही हैं। उनका दावा है कि उनके उत्पादों को खाने से कुपोषण दूर हो जाएगा। जिनके पास खाने के लिए साधन नहीं हैं, उनके लिए नया पैकेटबंद खाना लाया जा रहा है। कोई यह नहीं कह रहा कि गांव में ही साग, भाजी, फल, अनाज, दूध, अंडे, मांस पैदा करो। ऐसा कहने से बाजार का धंधा ठप्प पड़ जाएगा न।

कुपोषण को अलग करके मत देखो। समाज के भुखमरी के कगार पर पहुंचने का संकेत है यह। ये सारे बच्चे समाज और सरकार की जिम्मेदारी हैं। इन पर बाजारू प्रयोग मत करो। यह देखो कि जो भी निर्णय तुम ले रहे हो, उसका इन बच्चों पर क्या असर पड़ेगा। सरकार भी यह नहीं देखती कि उसकी नीतियों का बच्चों पर क्या असर होगा। इस तरह विस्थापन-पलायन को वयस्कों का मुद्दा बना दिया जाता

है। जो कुछ भी

हम या हमारी सरकार करेगी, उसका असर बच्चों पर पड़ना ही है। तब क्या बच्चों की भुखमरी समाज से अलग है? यदि नहीं तो गांव, पंचायत, ग्रामसभा, संगठन, शिक्षक, अधिकारी, कार्यकर्ता और सरकार इससे मुंह क्यों चुराते हैं?



श्योपुर का खोहरी गांव – वहां इतनी भुखमरी क्यों है?

व्यवस्थाओं के नजरिए से एक विश्लेषण :-

श्योपुर जिले की कराहल तहसील का गांव खोहरी 175 साल पहले बसाया गया था। सहरिया आदिवासियों के इस गांव में बकरियां, गाय,



बैल और मुर्गे—मुर्गियों के अलावा भूख भी रहती है। इसलिए, क्योंकि यहां आजीविका असुरक्षित है, जमीन पूरी तरह असिंचित है। सरकारी रोजगार योजनाएं बिलकुल गैर—जवाबदेह तरीके से चल रही है। जंगल खत्म किया जा रहा है और संसाधनों के प्रबंधन में समुदाय को मालिकाना हक नहीं दिया जा रहा है।

कुपोषण का दूसरा कारण शासन व्यवस्था की असफलता, यानी उसका कर्तव्य निर्वहन में नाकाम रहना भी है। कुछ मामलों में यह शासन व्यवस्था समाज के भी ऊपर का स्थान रखती है। हमारा समाज तो आपसी भेदभाव भी करता है। यह भेदभाव लिंग के आधार पर होता है, यह भेदभाव जाति के आधार पर भी होता है, अमीरी और गरीबी का भेदभाव भी है और उम्र के आधार पर बहिष्कार भी भरपूर है। यदि शासन व्यवस्था न बनायी जाए तो समाज में भेदभाव, असमानता, शोषण और बहिष्कार को पूरी मान्यता मिल जायेगी। मुझे लगता है कि खोहरी में इस शासन व्यवस्था का पूरी तरह से अकाल है। यहां भारत के संविधान के सबसे पहले पन्ने पर लिखे गए शब्दों का पूरा अभाव नजर आया।

शासन व्यवस्था और कुपोषण के आपसी संबंधों का मतलब है कि — क्या व्यवस्था सच में समस्या को समझ और महसूस कर पाई? क्या व्यवस्था सच में यह स्वीकार करती है कि समस्या है और गंभीर है? क्या व्यवस्था इसके समाधान के लिए रास्ते खोज पाई? और उन रास्तों पर चलने के लिए उसने समाज को सच में साथ लिया? अंत में यह कि जो भी कार्यक्रम और योजनाएं सरकार बनाती है, क्या उनका क्रियान्वयन भी लोगों के हित में हो पाता है, यानी जो तय किया है उसे लागू कर पाना। हमने जीवन, समाज, प्रति सबके लिए कार्यक्रम बना रहे हैं बस उनका क्रियान्वयन नहीं कर पाते हैं। चूंकि यही व्यवस्था की जिम्मेदारी है, जिसे वह निभा नहीं पा रही है।

समुदाय और प्रशासन ने बैठकर यह पहल की कि जो भी स्थितियां उभर कर सामने आ रही हैं, उनके निराकरण और समाधान की प्रक्रिया शुरू करके कुपोषण के एकीकृत सामुदायिक प्रबंधन और पूर्णकालिक बाल संरक्षण केन्द्र की संभावना को मूर्त रूप दें। संवाद में आखिर में यह यह पता चला कि खेती, जमीन, बिजली, पानी, रोजगार/मनरेगा, स्वास्थ्य सेवाओं, महिलाओं—बच्चों के पोषण और स्वास्थ्य के सवाल कुपोषण को एक बड़ा आकार देते हैं और केवल आंगनवाड़ी केंद्र चलाकर कुपोषण को खत्म नहीं किया जा सकेगा। इसी दिन यह भी योजना बनी कि खोहरी में बदलाव के लिए क्या किया जाना जरूरी है। आजीविका से लेकर पानी, सिंचाई, खेती, स्वास्थ्य और पोषण तक हर समस्या के हल निकले और यह भी पता चला कि छह महीने में इन्हें हल किया जा सकता है। कोई समाधान बाहर से लाने की जरूरत नहीं है, भरपूर संसाधन उपलब्ध हैं और कोई नई योजना बनाने के जरूरत नहीं है। जरूरत है तो बस जवाबदेह और संवेदनशील क्रियान्वयन की।

क्या होना चाहिए : खोहरी में सामुदायिक अध्ययन की एक स्वतंत्र प्रक्रिया के जरिए यह जरूर सोचा जाना चाहिए कि

1. लोग व्यवस्था के लिए होंगे या व्यवस्था लोगों के लिए होगी;



2. उस व्यवस्था में निगरानी और जवाबदेहिता तय करने की प्रक्रिया और प्रावधान क्या होंगे, ताकि लोगों को तयशुदा हक और सेवाएं मिल सकें और लापरवाही होने पर जिम्मेदार तंत्र को दण्डित किया जा सके;
3. अगर कोई प्रावधान या व्यवस्था या व्यवस्था में कोई कमजोरी भूख और कुपोषण का कारण हो, तब उसमें बदलाव होना चाहिए या नहीं; यदि हां, तो क्या हम उन व्यवस्थाओं में बदलाव के लिए तैयार हैं?
4. हमारी शासन व्यवस्था महिलाओं और बच्चों को किस तरह से सशक्त बनाएगी ? क्या उन्हें हमारी योजनाओं की निगरानी और कार्यवाही के विशेष अधिकार नहीं सौंपे जाने चाहिए?

हमने इन तीन दिनों में खोहरी गांव के लोगों, जो सहरिया आदिवासी हैं, उनसे जो भी सुना, उसकी कुछ बानगियां सामने रखना चाहता हूं —

यहां सिर्फ भूख है — हर कोई जानता है कि कुपोषण और भूख देश के चमकीले विकास को फीका कर देती है। देश में भूख के आंकड़े और अध्ययन तो हैं, पर कुपोषण और भूख के बावजूद खोहरी या देश के इस जैसे किसी भी गांव में स्थिति क्या है, इसके आकलन की कोई व्यवस्था नहीं है। राष्ट्रीय पोषण नीति 1992 में बनी थी। उसमें सरकार ने यह मान लिया था कि कुपोषण का कोई एक कारण नहीं है। इसके कई प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष कारण हैं। इसे रोजगार आजीविका, संसाधनों पर अधिकार, पीने के साफ पानी, लिंग और जाति भेद जैसे विषयों से अलग हटाकर न तो समझा जा सकता है, न ही कुपोषण मिटाने वाले किसी भी प्रयास को सफल बनाया जा सकता है।

पोषण नीति बनी, परन्तु गांव, समुदाय, परिवार और बच्चों के स्तर पर कुपोषण के प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष कारणों की सूक्ष्म मूल्यांकन करने, उस पर नजर रखने की कोई व्यवस्था नहीं बनी। खोहरी गांव की आंगनवाड़ी में पोषण आहार बांटता है, परन्तु उससे क्या बच्चों की जरूरत पूरी हो रही है या नहीं, यह जांचने की जहमत नहीं उठाई जाती। हमने बच्चों के चेहरों पर भूख के कारण पैदा होने वाली लाचारगी देखी। भोजन के लिए उनकी कोशिशों से साफ नजर आया कि वे भूखे हैं।

गांव में टेक होम राशन बांटता है। बीच में कभी-कभार गायब भी हो जाता है। रिकार्ड कहता है कि नियमानुसार टेक होम राशन के सारे पैकेट बांट दिए गए हैं। पर उन पैकेटों पर केवल हितग्राहियों (गर्भवती महिला, धात्री महिला और तीन साल से कम उम्र के बच्चों) ही हक नहीं रहता है, जिन्हें सरकारी कार्यक्रम ने चुना है। इस राशन को परिवार का हर सदस्य खाता है। इससे दो बार में ही यह पैकेट खत्म हो



जाता है। बच्चों की भूख बनी रहती है, क्योंकि पूरे परिवार की भूख भी एक दूसरे से जुड़ी है। हमारी व्यवस्था यह नहीं देखती है कि इस टेक होम राशन का क्या हुआ? देखकर भी वह नजर चुराएगी, क्योंकि देखने-समझने, जानने पर उसका निराकरण भी करना होगा, जिसके लिए व्यवस्था में प्रावधान नहीं हैं।

जरूरी है कि हम 6 वर्ष से कम उम्र के बच्चों के लिए केवल पूरक पोषण आहार का नहीं, बल्कि सम्पूर्ण आहार का प्रावधान सुनिश्चित करें। तीन वर्ष से कम उम्र के बच्चों को उनके हक का पोषण आहार मिले, इसके लिए एक ऐसी सामुदायिक निगरानी व्यवस्था बनानी होगी, जिससे यह सुनिश्चित हो सके कि उन तक पूरा पोषण पहुंच सके। प्रसव के दौरान हर महिला मृत्यु के जोखिम में होती है। खोहरी में लगभग हर महिला में खून की कमी है। उन तक भी पोषण आहार की उपलब्धता सुनिश्चित करनी होगी। लगभग 30 प्रतिशत बच्चों का जन्म के समय वजन सामान्य से कम होता है। इस तरह देखा जाए तो खोहरी में लगभग 70 बच्चों और 10 महिलाओं को भरपेट पोषण युक्त भोजन मिल सके, इसकी व्यवस्था करनी होगी।

किसकी जिम्मेदारी? क्या यह सरकार की जिम्मेदारी है? बिल्कुल। श्योपुर जिले में हर साल 600 से ज्यादा बच्चों की मृत्यु होती है, क्यों? क्योंकि कुपोषण और बीमारी से बचे रहने के लिए जिस तरह से संसाधनों की जरूरत होती है, वे संसाधन खोहरी गांव और श्योपुर के सहरिया आदिवासियों के अपने पूरे नियंत्रण में नहीं हैं। यदि आजीविका के साधन होंगे, गांव में होंगे, उनकी संस्कृति और स्थानीय परिवेश के अनुकूल होंगे, तो पहले चरण की खाद्य सुरक्षा स्थापित की जा सकेगी। चूंकि शासन व्यवस्था इसमें सफल नहीं रही है, इसीलिए कुपोषण आज इस भीमकाय रूप में हमारे सामने है।

वन अधिकार कानून 2006 रू भारत की संसद ने वर्ष 2006 में एक कानून बनाया था। वन अधिकार कानून 2006, जिसकी प्रस्तावना में लिखा गया है कि भारत में आदिवासियों के साथ ऐतिहासिक रूप से अन्याय होता रहा है और उसी ऐतिहासिक अन्याय को खत्म करने के लिए वन निवासियों और अन्य परंपरागत वनवासियों को जंगल की जमीन और संसाधनों पर हक देने के लिए यह कानून बनाया गया है। इस कानून के तहत खोहरी गांव के 52 परिवारों ने उस जमीन पर अधिकार पाने के लिए दावे लगाए, जिन पर वे कई सालों से खेती करते आये हैं। वन अधिकार कानून के मुताबिक यहां ग्राम वन अधिकार समिति बननी चाहिए थी, परन्तु कोई समिति नहीं बनी और ग्राम पंचायत मेहरवानी के पंचायत सचिव ने दावों के फार्म लेकर वन विभाग में जमा कर दिए। यह काम वर्ष 2008-09 में किया गया था। तब से लेकर अब तक चार वर्ष गुजरने को आये हैं, पर गांव के लोगों को यह नहीं बताया गया कि उनके दावों का क्या हुआ?

हमें पता चला कि जिस जमीन पर व्यक्तिगत अधिकार पाने के लिए दावे लगाए गए थे, वह जमीन वन विभाग की न होकर राजस्व विभाग की



है, इसलिए इस जमीन पर उनके हक नहीं बनते हैं। इसके बारे में भी उन्हें जानकारी नहीं दी गयी। इसी कानून के तहत समुदाय को वनों में सामुदायिक अधिकार भी हैं। खोहरी गांव के लोग आसपास के जंगल से भाजियां, पत्तेदार सब्जियां लाकर खाते हैं। वे अपने देवी-देवताओं को पूजने भी जंगल जाते हैं। लहचूरा खोह और पनिहा खोह से पानी लाते हैं। 60 तरह की जड़ी बूटियां और वन उत्पाद लेकर वे आते हैं। खोहरी के लोगों का जीवन तीन स्तंभों पर टिका हुआ है – खेती, जंगल और मजदूरी।

99 में से 39 परिवारों के पास पट्टे वाली जमीन है। जमीन का औसत आकार छह बीघा है, 32 परिवार ऐसे हैं जिनके पास कब्जे की जमीन है, जबकि 28 परिवार पूरी तरह से भूमिहीन हैं। जमीन कोई सी भी हो, पट्टे वाली हो या बिना पट्टे वाली, हर जमीन असिंचित है। यहाँ जमीन तीन तरह की है – काली मिट्टी, मुरम और पथरीली। आज की स्थिति यह है कि अपनी पट्टे वाली जमीन पर ये परिवार भरपूर श्रम करने के बाद भी औसतन सवा दो से ढाई क्विंटल बाजरा का उत्पादन कर पाते हैं। यह उत्पादन उनकी अक्टूबर से मार्च तक की खुद की परिवार की जरूरतों को पूरा करता है और इसके बाद ये चैत काटने के लिए पलायन कर जाते हैं और अगले छह माह की जरूरतें पूरी करने की कोशिश करते हैं।

सवाल यह है कि जब खोहरी गांव के लोग कई दशकों से राजस्व की जमीन जोत रहे हैं, तो उन्हें उस पर कानूनी हक क्यों नहीं दिए गए? भारत सरकार ने जिस तरह वन अधिकारों का निपटारा करने के कट ऑफ डेट तय की है। और पट्टे देने की प्रक्रिया शुरू की। उसी तरह राजस्व भूमि के लिए भी पट्टे बांटने की कट आफ डेट तय क्यों नहीं की गई? यह स्पष्ट कर देना जरूरी है कि खोहरी के जो परिवार राजस्व की जमीन जोत रहे हैं, उनका इस जमीन पर कब्जा कोई नया नहीं है। वे कई वर्षों से इसे जोत रहे हैं। जमीन का मालिकाना हक नहीं होने से लोग भूख के शिकार हैं, क्योंकि पट्टे के बगैर न तो वे जमीन पर कुएं खोद सकते हैं, न ही खेत में मनरेगा के तहत मेढ़ बंधान हो सकता है और न ही सिंचाई के साधन मिल सकते हैं।

जमीन का सवाल – ध्यान देने वाले बात है कि पट्टेधारियों की जमीन का भी अब तक सीमांकन नहीं हुआ है, जिससे किसी आदिवासी किसान को यह नहीं पता है कि उनकी जमीन कहां से कहां तक है। स्थानीय राजस्व निरीक्षक का कहना था कि आधे आदिवासी किसानों की जमीन को कोई और जोत रहा है। यहां पहले 1984 में लोगों को जमीन के पट्टे दिए गए थे। इसके बाद वर्ष 1998 और 2000 में भी पट्टे दिए गए। लेकिन जमीनों का कब्जा नहीं दिलाया जा सका और न ही किसी ने उनकी जमीन का सीमांकन ही करवाने की पहल की। ऐसा इसलिए भी, क्योंकि इससे आदिवासियों को यह पता चल जाता कि जमीन पर असल कब्जा तो उच्च तबकों का है।

सहभागी आकलन में यह बात भी उभरकर आई कि पंचायत सचिव के कब्जे में लगभग 500 बीघा जमीन है। पर उस पर उन्हें सिंचाई के



साधन मिले हुए हैं और वे अपने संसाधनों का पूरा उपयोग कर पा रहे हैं। खोहरी गांव कराहल विकासखंड में आता है, जो पांचवी अनुसूची के तहत आता है। इसमें आदिवासी समुदाय को निर्णय लेने और शासन व्यवस्था में व्यापक अधिकार दिए गए हैं। परन्तु खोहरी गांव में पंचायत सचिव की भूमिका न केवल लोगों को गरीबी के जाल में फंसाती है, बल्कि यह उन्हें उच्च वर्ग की गुलामी के लिए भी मजबूर करती है। कानूनन इस गांव में बाहरी शराब की बिक्री नहीं हो सकती है, परन्तु सहभागी ग्रामीण आकलन (पीआरए) और साक्षात्कारों से पता चला कि इस गांव में एक बाहरी परिवार (उच्च वर्ग से सम्बंधित, पंचायत सचिव के सम्बन्धी, जो एक किसी दूसरे इलाके का फरार अपराधी भी है) बोटलबंद शराब बेचता है। लोगों ने कहा कि शराब उनकी भूख को दबाकर उन्हें नींद के आगोश में ले जाती है।

सिंचाई — गांव में बिजली नहीं है, लिहाजा इससे चलने वाले सिंचाई के साधन भी काम नहीं करते। जमीन पूरी तरह से असिंचित है। 2006-06 में कृषि विभाग ने 10 खेतों के बीच में सिंचाई के लिए बोरिंग की थी। जमीन में गड्ढा कर छोड़ दिया गया, क्योंकि बोरवेल को चलाने के लिए बिजली नहीं थी। सवाल यह है कि जब बिजली ही नहीं थी तो गड्ढा क्यों किया गया? मतलब है कि गांव में योजना लागू करने के पहले विभाग यह नहीं देखता कि दूसरे विभाग द्वारा अनिवार्य रूप से जाने वाली सुविधा की व्यवस्था की गयी है या नहीं?

गांववालों को बताया गया कि वर्ष 2003 में मध्यप्रदेश शासन ने राजस्व की जमीनों पर किसानों द्वारा किये गए कब्जे के पट्टे दिए जाने की प्रक्रिया पर प्रतिबन्ध लगा दिया था। यदि कुपोषण मिटाना है तो एक नियम और प्रक्रिया के तहत सहरिया आदिवासियों को जमीन का वैधानिक मालिक बनाना ही होगा। ताकि उसे सिंचाई की सुविधाएं और कृषि विकास की सहायता मिल सके। चूंकि अभी उन पर एक उच्चवर्गीय समुदाय का शासन है, इसलिए उन्हें उनके बुनियादी हकों और सेवाओं को भी छीना जाता है।

पेयजल — गांव में दो हैंडपम्प और एक बोरवेल है। बोरवेल में लगी डीजल से चलने वाली मोटर के जरिए प्लास्टिक की सार्वजनिक टंकी को भरा जाता है। अध्ययन समूह ने मौके पर पाया कि डीजल पंप को एक दिन पहले ही ठीक करवाया गया था। लगभग तीन महीने तक यह मोटर खराब पड़ी रही। ग्राम पंचायत ने सुविधाओं के अभाव में मोटर ठीक नहीं करवाई। ऐसे समय में गांव की महिलायें अक्सर डेढ़ किलोमीटर दूर लहचूरा खोह या पनिहा खोह से पानी लाया करती हैं। गांव में बिजली नहीं है, इसलिए पीने के पानी का कोई वैकल्पिक व्यवस्था नहीं की जा सकती। महिलाओं को जंगल से लकड़ी, भाजियां लाने और घर के भीतर की जिमेदारी भी निभानी पड़ती हैं। गर्भावस्था के दौरान और प्रसव के बाद कुछ ही दिनों बाद ही वे फिर से कामकाज में जुट जाती हैं। खोहरी गांव में आजीविका के साधन सुरक्षित किये बिना और लैंगिक भेदभाव वाले नजरियों में बदलाव के लिए काम किये बिना अपने प्रयासों का सफल होना संभव न होगा।

महात्मा गांधी ग्रामीण रोजगार गारंटी योजना — सरकार खोहरी गांव के लोगों को यह समझा नहीं पायी कि इस कानून के मकसद क्या



हैं और यह किस तरह से इनके गांव की तस्वीर बदल सकता है। खोहरी गांव में 145 जाबकार्ड धारी हैं। यदि पिछले 4 वर्षों की औसतन न्यूनतम मजदूरी 100 रुपए मान ली जाए तो इस गांव में एक व्यक्ति को 100 दिनों का रोजगार देने के लिए सालाना लगभग 16,000 रुपए खर्च किये जाते यानी 145 परिवारों पर एक साल में 23.20 लाख रुपए खर्च किये जाते। और चार सालों में इस गांव में 92 लाख रुपए की राशि पहुंचती, इसके विपरीत खोहरी गांव में वर्ष 2011-12 में 14500 मानव दिवस रोजगार उपलब्ध करवाने के बजाय कुल 1154 मानव दिवस का रोजगार यानी एक परिवार के लिए 8 दिन का रोजगार ही सृजित किया गया। अक्टूबर 2012 की स्थिति में इस गांव में 145 परिवारों के लिए केवल 594 दिन का रोजगार पैदा हुआ था।

पंचायत सचिव दीप सिंह का कहना है कि गांव के लोग काम नहीं करना चाहते हैं। गांव के लोग इससे इनकार करते हैं। वर्ष 2008-09 में काम की मांग करने पर लोगों से मार-पीट की गयी थी। इसके चलते खोहरी गांव की ऊपरी बसाहट के लोगों ने 4 वर्षों में कोई काम नहीं किया है। यहां न तो मनरेगा के तहत वार्षिक योजना बनती है, न ही कभी सामाजिक अंकेक्षण ही हुआ है। पंचायत सचिव यह भी कहते हैं कि वन विभाग ने उन्हें साफ कह रखा है कि उनकी जमीन पर एक इंच का भी काम न कराया जाए। जबकि सच्चाई यह है कि इससे जंगल के विकास को एक नया आयाम मिलेगा। मनरेगा के सन्दर्भ में दो कदम उठाये जाने की जरूरत है — अब तक हुए कामों और प्रक्रिया की जांच करवाई जाए और इस योजना के तहत काम खोल कर समन्वय के उनका क्रियान्वयन सुनिश्चित करवाया जाए।

एकीकृत बाल विकास परियोजना — खोहरी गांव में एक आंगनवाड़ी है, जहां कार्यकर्ता हैं रुक्मणि शर्मा। बताया गया कि वे महीने में कभी-कभार ही आंगनवाड़ी केंद्र आती हैं। रुक्मणि शर्मा ने एक स्थानीय आदिवासी महिला रामकली आदिवासी को अपनी जगह पर बिठा रखा है। इस भरोसे के साथ कि उसे सहायिका बनवा दिया जाएगा। रामकली 2007 से बिना किसी मानदेय के सहायिका का काम कर रही है। वही बच्चों को केन्द्र तक लाती है, उनका वजन करती है। वृद्धि निगरानी का काम आईसीडीएस का एक सबसे महत्वपूर्ण काम है, परन्तु केंद्र के वृद्धि निगरानी रजिस्टर में दर्ज जानकारीयां सही नहीं थीं। बच्चों का वजन भी नहीं लिया जा रहा था। सरकार और प्रशासन को यह भली-भांति पता है कि सहरिया समुदाय में बाल कुपोषण का स्तर बहुत ज्यादा है फिर भी एक दशक से ज्यादा गुजर जाने के बाद समग्र कार्ययोजना के कोई प्रयास नहीं किये गए। अध्ययन के दौरान आईसीडीएस पर्यवेक्षकों से अनुरोध किया गया कि वे ऊपरी मध्य बांह की माप कर (एमयूएसी टेप) से बच्चों में गंभीर कुपोषण की पहचान करें। उन्होंने टेप बच्चों की खुली बांह पर लगाने के बजाय स्वेटर चढ़ी बांह पर लगाया। इस गलती के लिए पर्यवेक्षक जिम्मेदार माने जा सकते हैं, पर व्यवस्थागत सवाल यह कि जब उन्हें सही प्रशिक्षण नहीं दिया गया और क्षमता वृद्धि नहीं की गयी तो उन्हें सबसे पहले जिम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता है। इसी तरह से आंगनवाड़ी कार्यकर्ता की लापरवाही के लिए भी सबसे पहले उसे ही जिम्मेदार नहीं ठहराया जाना चाहिए। हमारी आईसीडीएस की व्यवस्था में कार्यक्रम की निगरानी की प्रक्रिया



भी तय की गयी है, उस प्रक्रिया के आधार पर जवाबदेहिता तय होना चाहिए।

स्वास्थ्य — खाद्य असुरक्षा और भोजन में सूक्ष्म पोषक तत्वों की कमी से श्वास संक्रमण, त्वचा रोग, मलेरिया, निमोनिया, डायरिया जैसी बीमारियां स्थाई समस्या बनाती रही हैं। खोहरी में बीमारों की नियमित रूप से जांच और स्वास्थ्य की निगरानी की कोई व्यवस्था ही नहीं है। हम जानते हैं कि बीमारियां ही कुपोषण के कुचक्र को और घातक बना देती हैं। इस बात के इंतजाम हों कि स्कूल और आंगनवाड़ी केंद्र में हर माह प्रत्येक बच्चे की पूरी स्वास्थ्य जांच हो। साथ ही हर गर्भवती और धात्री माताओं की भी स्वास्थ्य जांच हो।

यह इसलिए भी जरूरी है, क्योंकि बीमार पड़ने पर लोग कर्ज लेकर इलाज करवाते हैं। खोहरी में हर परिवार 5000 से 8000 रुपए के कर्ज में है। ये कर्ज अलग-अलग लोगों से लिया गया है, क्योंकि इन सहरिया आदिवासियों की क्षमता इतनी नहीं कि ये एकमुश्त कर्ज लौटा सकें। खोहरी गांव में 2011-12 को 32 में से 18 संस्थागत प्रसव हुए, परन्तु इस साल यानी 31 अक्टूबर 2012 तक इस गांव में सभी प्रसव घर में ही हुए। हमें यह बार-बार बताया गया कि सरकारी स्वास्थ्य केंद्रों में यह सुनिश्चित नहीं हो पाता है कि जीवन बच भी पायेगा। पहुंचने के बाद घंटों इंतजार, फिर डॉक्टर जांच कर भी लें तो दवाईयां बाहर से ही लेनी पड़ती हैं। केंद्र के कर्मचारियों का व्यवहार बहुत खराब होता है। इसीलिए महंगा होने के बाद भी ये निजी चिकित्सक का इलाज करवाते हैं। सरकारी सेवाएं इनके लिए आखिरी विकल्प होता है।

बाल एवं मातृत्व स्वास्थ्य — मातृत्व मृत्यु अनुपात को कम करने के लिए सरकार संस्थागत प्रसव को बढ़ावा दे रही है, लेकिन खोहरी में जब सरकार-प्रशासन और समुदाय के बीच संवाद हुआ तो सबसे पहले खड़ी हुई उर्मिला बाई सहरिया ने कहा कि तीन दिन से आप लोग पूछ रहे हैं कि इलाज करवाने सरकार अस्पताल क्यों नहीं जाते हो, प्रसव करवाने अस्पताल क्यों नहीं जाते हो? हम इसलिए नहीं जाते हैं कि सरकारी अस्पताल का इलाज हमें प्राइवेट से महंगा पड़ता है। गर्भवती औरत को यहां से 8 किलोमीटर दूर कराहल अस्पताल ले जाने के लिए 300 रुपए देकर वाहन मंगवाना पड़ता है, 200 रुपए नर्स मेडम लेती हैं, 150 रुपए महतरानी बाई लेती हैं, 150 रुपए वार्ड वाला लेता है और 500 रुपए अस्पताल में चेक बनाने वाले ले लेते हैं। जरूरत के समय डॉक्टर साहब नहीं आते। वे अपनी मर्जी के मालिक हैं। दवाईयां तो वहां मिलती ही नहीं हैं, बाजार से खरीदनी पड़ती हैं।

प्रजनन और शिशु स्वास्थ्य, जननी सुरक्षा योजना जैसे कार्यक्रम यहां चल तो रहे हैं, पर उनकी निगरानी की कोई व्यवस्था नहीं है। यह देखने वाला कोई नहीं है कि इन कार्यक्रमों का मकसद किस हद तक पूरा हो रहा है। जो प्रावधान योजना में किये गए हैं, वे महिलाओं और बच्चों तक पहुंचे या नहीं, यह जांचने की एक आंकड़ा आधारित व्यवस्था है, जिसका कोई जमीनी मूल्यांकन नहीं होता। जब बुनियादी व्यवस्थागत ढांचा ही नहीं है तब राज्य स्तर पर बच्चों और महिलाओं के स्वास्थ्य के बारे में पेश की गई रिपोर्ट/रिपोर्ट्स कितनी विश्वसनीय हैं? श्योपुर



जिले में वर्ष 2011—12 में 85 प्रतिशत प्रसव संस्थागत प्रसव थे, इसका मतलब है कि इतने प्रतिशत बच्चों को जन्म के तत्काल बाद मां का दूध मिला ही होगा! परन्तु यदि खोहरी को आधार बनाया जाए तो यहां पारंपरिक रूप से आज भी हर बच्चे को जन्म के तीन दिन तक गुड़ का पानी पीने के बाद ही मां का दूध मिलता है। ऐसे में कुपोषण कैसे कम हो रहा है?

खोहरी गांव में एक भी बच्चे का सम्पूर्ण टीकाकरण नहीं हुआ है, परन्तु लोक स्वास्थ्य और परिवार कल्याण विभाग की वार्षिक रिपोर्ट के मुताबिक श्योपुर जिले में 99 प्रतिशत बच्चों का सम्पूर्ण टीकाकरण हुआ है। खसरे के टीके लगाने का प्रतिशत 102 प्रतिशत, डीपीटी का प्रतिशत 101 प्रतिशत और बीसीजी टीका 109 प्रतिशत लगाया गया है। योजनाएं लागू करने वाले, क्रियान्वयन करने वाले और स्वतंत्र निगरानी करने वाली व्यवस्थाएं कुछ बनी हैं और कुछ निष्क्रिय हैं और यही आखिर में पूरे प्रयासों को नाकाम कर रही हैं। साफ है कि योजनाएं, कार्यक्रम और संवैधानिक प्रावधान होने के बावजूद अधिकारों और सेवाओं को लोगों तक पहुंचाने में व्यवस्था नाकाम है।

शिक्षा — सरकारी निर्देश हैं कि किसी भी आदिम जनजाति समुदाय (मध्यप्रदेश में बैगा, भारिया और सहरिया) में यदि कोई हाईस्कूल तक शिक्षा प्राप्त हो तो जिला कलेक्टर उसे सरकारी विभाग में नियमानुसार सीधे नियुक्ति कर सकता है। खोहरी पंचायत में एक कमरे का प्राथमिक स्कूल है, जिसका फर्श हमारे अध्ययन समूह के पहुंचने के ठीक एक दिन पहले बनवाया गया था। लोगों ने बताया कि 20 साल से नियुक्त शिक्षक सुनील शर्मा माह में 2—3 दिन आते हैं। मध्यान्ह भोजन का काम स्थानीय स्वयं सहायता समूह के पास है, इसलिए महीने में 15 दिन बच्चों को भोजन जरूर मिल जाता है। गांव की महिला पांचो बाई कहती है कि “ये स्कूल बंद है तो हमारे भाग (भाग्य) पर भी ताला लग गया है। बच्चे बस्ता लेकर नहीं, थाली—कटोरी के साथ स्कूल जाते हैं।”

पारदर्शिता और जवाबदेहिता — गांव के लोग स्कूल, आंगनवाड़ी मनरेगा, वन विभाग, विद्युत विभाग, सिंचाई विभाग को समुचित सेवाएं मुहैया कराने के लिए लगातार आवेदन और शिकायत पत्र देते रहे हैं, लेकिन एक पर भी उन्हें कोई कार्यवाही होती नजर नहीं आई। यह एक आम भावना है कि व्यवस्था उनके लिए नहीं है और वे हमेशा एक याचक की भूमिका में ही रहेंगे। जब हमने उनसे वन अधिकार कानून और मनरेगा कानून के बारे में लिखित में आवेदन देने को कहा तो उनका कहना था कि इसका कोई मतलब नहीं है। पिछले 4 सालों में एक भी आवेदन पर प्रशासन ने कार्यवाही नहीं की और वह गलत काम करने वालों को संरक्षण देता है।

प्रशासन को यह सुनिश्चित करना होगा कि हर सूचना, लिखित या मौखिक शिकायत पर सक्रियता दिखाई जाए और केवल यह मानकर गांव वालों के आवेदनों को कचरे के डब्बे में न फेंका जाए कि ये तो सहरियाओं के हैं, आते रहेंगे, जैसी कि मान्यता बनती जा रही है। परियोजना/विकासखंड और जिला स्तर पर भी हर स्रोत से प्राप्त सूचना पर संज्ञान लिया जाए, इसमें अखबारों की सूचना भी शामिल हो।



राज्य स्तर पर आंगनवाड़ी और स्वास्थ्य व्यवस्था के तहत स्वतंत्र संयुक्त शिकायत निवारण और निगरानी व्यवस्था बनायी जाना चाहिए। गांव के स्तर पर हर प्रकरण में पर्यवेक्षण और नेतृत्व करने वाली जिला स्तर की व्यवस्था और अफसरों की भूमिका भी जांच का विषय है। अगर सरकार और विभाग जवाबदेहिता स्थापित करने के लिए प्रतिबद्ध है तो यह सुनिश्चित करना होगा कि यह प्रक्रिया सबसे कमजोर और निचले क्रम के व्यक्ति पर कार्यवाही से शुरू न हो।

सार्वजनिक वितरण प्रणाली – सर्वोच्च न्यायालय का आदेश है कि हर आदिम जनजाति परिवार को, जिनमें सहरिया समुदाय भी शामिल है, अंत्योदय अन्न योजना का लाभ मिले। यह योजना समुदाय के लिए आज जिन्दा रहने का बड़ा साधन बनी हुई है। फिर भी योजना में भी कई स्तरों पर विसंगतियां हैं।

जो अनाज खोहरी गांव के 145 अंत्योदय कार्डधारियों को मिलता है, उसमें कंकड़-पत्थर की भारी मिलावट पायी गयी। सार्वजनिक वितरण प्रणाली से मिले एक किलो अनाज को कंकर और कचरा निकालकर तौला गया तो उस प्रति किलो 300 ग्राम की कमी मिली, यानी अनाज में 30 प्रतिशत कचरे की मिलावट थी। यह जांच करना होगा कि किस स्तर पर राशन के अनाज में मिलावट हो रही है। यहां न्यायालय और मध्यप्रदेश सरकार के पीडीएस कंट्रोल आर्डर – 2009 के मुताबिक किस्तों में कार्डधारियों को अनाज नहीं मिलता है, जो कि मिलना चाहिए। जब एक परिवार से इस तरह 10 किलो अनाज छीना जा रहा है तो जिले के कुल 30 हजार परिवारों से कितना राशन चुराया जा रहा है?

विभागीय सामंजस्य – खोहरी में लोगों को वृक्षारोपण के लिए पौधे दिए गए, पर न तो इसके लिए उन्हें प्रशिक्षण दिया गया न ही इस बात की जानकारी ली गई कि पेड़ लग पाए या नहीं। कोई समस्या तो नहीं आई? एक साल में लगाए गए 420 पौधों में से अब महज 20 जिन्दा बचे हैं और गांव अब भी पानी के संकट से जूझ रहा है। इसी तरह इलाज में काम आने वाली जड़ी-बूटियों और औषधीय पौधों के बारे में एएनएम, आशा, आंगनवाड़ी कार्यकर्ता और ग्राम स्वास्थ्य, स्वच्छता और पोषण समिति को नहीं बताया गया। खोहरी के आसपास के जंगल इन औषधीय प्रजातियों, भाजी-सब्जियों से भरे पड़े हैं। कृषि विभाग भी यहां दालों और उपयोगी खाद्य पदार्थों, खासतौर पर बारीक अनाज के उत्पादन में अहम भूमिका निभा सकता है, जिसका नतीजा कुपोषण में कमी के रूप में मिलेगा। पेयजल के लिए नल-जल योजना के साथ बिजली भी जरूरी है।

कर्ज का चक्र – सहरिया मुख्य रूप से तीन जरूरतें पूरी करने के लिए कर्ज लेते हैं – बीमारी का इलाज (40 प्रतिशत), खेती (25 प्रतिशत), शादी विवाह और सामाजिक व्यवहार (35 प्रतिशत)। इस पर 5 फीसदी प्रति माह, यानी 60 प्रतिशत वार्षिक की दर से ब्याज देना पड़ता है। गांव के आदिवासी चैत्र कटाई (गेहूं) के लिए दूसरे जिलों और पूर्वी शिवपुरी की तरफ जाते हैं। जहां वे बड़े काश्तकारों से कर्ज लेते हैं और



इसके एवज में अगले सीजन में उनके यहां मजदूरी करने का वायदा कर लौटते हैं। अगली फसल में पिछला कर्ज चुकाते हैं और फिर नया कर्ज ले लेते हैं। फसल खराब होने पर भी बड़े काश्तकार सहरिया आदिवासियों से पुराना कर्ज वापस नहीं मांगते, क्योंकि अगली फसल के दौरान उनकी वापसी पक्की होती है। इन स्थितियों में स्थानीय स्तर पर सम्मानजनक आजीविका की सुरक्षा के साथ-साथ इन्हें कर्ज के चक्र से निकालने की रणनीति भी बनानी होगी। बिना रोजगारी के साधनों के ये इस चक्र से स्थायी रूप से बाहर न आ सकेंगे।

सहरिया विशेष पिछड़ी जनजाति विकास अभिकरण — श्योपुर में सहरिया विशेष पिछड़ी जनजाति विकास अभिकरण बना हुआ है। इसके मुख्य मकसदों में उनकी आजीविका, खाद्य सुरक्षा, शिक्षा, पोषण और पीने के पानी की व्यवस्था सुनिश्चित करना है। अभिकरण कार्यक्रमों का क्रियान्वयन स्वयं नहीं करता है। यह सम्बंधित विभागों को उनके प्रस्ताव और काम के मुताबिक राशि जारी की जाती है। वर्ष 2007—08 में इस अभिकरण को 250.374 लाख रुपए का आवंटन प्राप्त हुआ था। इसमें से उन्होंने 24 कामों के लिए राशि जारी की, जिसमें से 9 कार्यक्रमों का उपयोगिता प्रमाण पत्र ही प्राप्त नहीं हुआ है। जिला महिला बाल विकास अधिकारी, श्योपुर को 29.76 लाख रुपए की राशि का आवंटन हुआ था। इसमें से 15 लाख रुपए की किस्त जारी की गयी, परन्तु न तो इस व्यय का प्रमाणपत्र प्राप्त हुआ, न ही विभाग ने दूसरी किस्त के 15 लाख रुपयों की मांग ही की। वर्ष 2011—12 में भी आंगनवाड़ी केन्द्रों में विशेष नर्सरी सहरिया शिक्षिका योजना के तहत 248 आंगनवाड़ी केन्द्रों के लिए 1000 रुपए प्रतिमाह के हिसाब से 29.76 लाख रुपए का आवंटन किया गया, परन्तु महिला एवं बाल विकास विभाग ने इस राशि के लिए कोई प्रस्ताव ही नहीं भेजा। बालिकाओं को स्कूल भेजने पर क्षतिपूर्ति राशि की व्यवस्था करने के लिए भी लगभग 7.20 लाख रुपए दिए गए, परन्तु उसका भी उपयोगिता प्रमाण पत्र नहीं आया है। इस अभिकरण ने मध्यप्रदेश के कृषि विभाग और जवाहरलाल नेहरू कृषि विश्वविद्यालय के साथ मिलकर सहरियाओं के लिए शोध के कार्य किये, कृषि किट उपलब्ध करवाई गयी परन्तु ये काम व्यापक बदलाव में किस तरह से सहायक होंगे और उनके परिणाम क्या हुए, इसके बारे में कोई मूल्यांकन उपलब्ध नहीं है।

जंगल पर निर्भर सामाजिक व्यवस्था — सहरियाओं को जंगल से फांग, चरेटा, जंगली करेला, पमार, चेंच, बल्लर जैसी भाजियां और सब्जियां भी मिलती रही हैं। आज भी इन्हें जंगल से भाजी और कुछ सब्जियां मिल जाती हैं, पर ये उतनी की मात्रा में सब्जी और भाजी तोड़ते हैं जितनी एक समय के भोजन के लिए जरूरत होती है। वे कहते हैं जंगल तो हमारा देवता है, जब वह हमें हमेशा कुछ देता रहता है तो हम इकट्ठा करके क्यों रखें। जंगल से उन्हें 64 तरह की उपज मिलती रही है। इसमें गिल्लू, आंवला, तेंदू, महुआ, धावड़ा, गोंद, खैर, सफेद मूसली, काली मूसली, शहद, शतावर, बील, अर्जुन छाल, चिरौंजी—अचार, बड़ी कटेरी, सलाई गोंद, बाजर, माल कांगनी जैसे वनोपज शामिल हैं। पहले भी सहरिया आदिवासी जंगल से इन उत्पादों को लाते और बेचते थे। फर्क बस इतना था कि वे लघु वनोपज का अंधाधुंध दोहन नहीं करते थे। रत्ती सहरिया कहते हैं कि 17—18 साल पहले (यानी 1995—96 के आसपास) कुछ लोग गांव में आने लगे। वे गांव वालों को



नकद राशि देकर जंगल से वनोपज बटोरने को कहते थे। वे हमें 200 से 1000 रुपए तक देते थे। दो-तीन साल बाद उनकी मांग बढ़ गई वे अग्रिम राशि (यान कर्ज) का दबाव बनाकर शतावर, अर्जुन की छाल, बील, और सफेद मूसली की मांग करने लगे। अब स्थिति यह है कि मूसली बमुश्किल मिल पाती है। हमसे 100 रुपए में मूसली ले जाकर बाजार में 1500 रुपए की बेची गयी। अर्जुन की छाल के लिए पूरा पेड़ ही छील दिया गया। जब बाजार बढ़ा तो शहर के व्यापारी अपने मजदूर लेकर जंगल आने लगे और दूसरे इलाकों के आदिवासी भी जंगल आते और आंवला तोड़कर ले जाने लगे। हालात यह हैं कि आंवला पकने से पहले ही तोड़ लिया जाता है। गांव की परिधि में अब केवल रस्ती सहरिया के पास चिरौंजी के पेड़ बचे हैं, वह भी केवल पांच। लघु वनोपज मिल की खोज में जंगल के भीतर गहरे तक जाना पड़ता है। रस्ती के मुताबिक वनोपज की उपलब्धता में तीन चौथाई कमी आ चुकी है। कुपोषण और बीमारियों के इलाज में सहरियाओं की जंगल आधारित सामाजिक व्यावस्था और वनोपज की महती भूमिका रही है, लेकिन सरकार की मौजूदा व्यवस्था में इसे पूरी तरह से नजरअंदाज कर दिया गया है।

कुछ बुनियादी बातें

हमें व्यवस्था के स्तर पर शोषण और भूख से प्रभावित लोगों को आरोपी या अपराधी सिद्ध करने की कोशिश से बचना होगा —

- लोग बीमार पड़ते हैं, कर्ज लेते हैं और मर भी जाते हैं। परन्तु इसके लिए भी वे खुद जिम्मेदार हैं।
- पोषण पुनर्वास केंद्र हैं पर लोग अपने गंभीर कुपोषित बच्चों को वहां नहीं रखना चाहते, क्योंकि
- उनके लिए बकरियों की देखभाल बच्चे से ज्यादा जरूरी है।
- मनरेगा में पंचायत तो काम खोलना चाहती थी, पर लोग ही काम नहीं करना चाहते हैं।



ककहरा कुपोषण का





हमारे पास हर उस बात का तर्क का जवाब हो सकता है, जिसके लिए हम जिम्मेदार हैं। खोहरी में हमने पाया कि इनमें से हर तर्क गैर-वाजिब है। जिस परिवार के पास न तो आजीविका के साधन हैं न ही घर में खाने को अनाज, वह 14 दिन पोषण पुनर्वास केंद्र में कैसे गुजारेगा? जिनके पास बमुश्किल कुछ बकरियां इकट्ठा हो पायी हैं, उन्हें हमें ही तो विश्वास दिलाना होगा कि गांव के लोग मिलकर उनकी सुरक्षा करेंगे। जिस समुदाय को उसके न्यायिक हक के बावजूद 35 किलो राशन पूरा न मिल पा रहा हो और जमीन होने के बावजूद अब तक सिंचाई की सुविधा न मिल पायी हो, वह उस

व्यवस्था पर कैसे विश्वास कर ले कि उसके बच्चे को पोषण पुनर्वास केंद्र में बचा ही लिया जायेगा। लोग यह भी सवाल पूछते हैं कि पोषण केंद्र से वापस तो हमें यहीं इसी गांव में आना है। बच्चे फिर कमजोर हो जायेंगे, तब क्या करेंगे? यहां तो भूख को ही खाना है न!! वे कहते हैं, हम भी अपने बच्चों को जिन्दा देखना चाहते हैं, लेकिन कोई रास्ता तो दिखे!

व्यवस्था का मतलब घर की उसी व्यवस्था से होता है, जिसमें अच्छे-बुरे और सही-गलत के आधार पर सभी वयस्क अपनी जिम्मेदारी निभाते हैं। कोई बच्चा अगर आसानी से खाना नहीं खाता, तो क्या हम उसे खाना खिलाना छोड़ देते हैं या कई अलग-अलग कोशिशें करते हैं। कुछ बच्चे स्कूल नहीं जाना चाहते, तो क्या उन्हें उस दिन या कई दिन स्कूल भेजा नहीं जाता? अगर गांव में यदि किसी ने मनरेगा में काम करने से मना कर भी दिया तो क्या उसे समझाने और समझाने की कभी कोशिश की गई? नहीं!

हमें व्यवहार के साथ शासन व्यवस्था के प्रति लोगों की सोच और अवधारणाओं को भी बदलना होगा। इसके बिना वे आपके उस सन्देश को भी नहीं मानेंगे, जिसमें आप उन्हें खाने से पहले और खाने के बाद हाथ धोने की सलाह देते हैं। उनका विश्वास टूटा है और जिस पर विश्वास न हो, उसकी बात क्यों मानी जाए? ज्यादातर कोशिशें तो आंकड़ों में तय लक्ष्य को पूरा करने के लिए हो रही हैं और वही शासन व्यवस्था के संतोषी होने का आधार बन गया है। स्थिति में बदलाव इसका आधार नहीं है। बच्चों और गर्भवती महिलाओं से संबंधित सेवाओं के मामले में हमें यह तय करना होगा, कि यदि वे सेवाओं तक नहीं पहुंच पा रहे हैं तो किसी भी कीमत पर सेवाएं उन तक पहुंचें। खोहरी गांव में एक प्रक्रिया चलानी होगी, जिसमें सभी विभाग यह आकलन करें कि लोग क्या चाहते हैं और उनके लिए योजना किस तरह बनाई जायेगी। उन योजनाओं के कुपोषण के जुड़ाव को भी स्थापित करना होगा। ये योजनाएं खेती से जुड़ी हो सकती हैं, लघु वनोपज से जुड़ी हो सकती हैं और पानी की व्यवस्था और मनरेगा से भी जुड़ी होंगी। आखिर सबका मकसद तो आजीविका की सुरक्षा देकर लोगों को भुखमरी से मुक्त करना ही है।



क्या कुपोषण की कोई राजनीति भी है?

लोकतंत्र की राजनीति वोट पर चलती है। जो वोट देता है, वह अपनी पंचायत, विधायक और सांसद को प्रभावित कर लेता है। लेकिन बच्चे, वे तो वोट नहीं देते। यही कारण है कि उनकी बात बहुत कम हुई है। जरूरी था कि हम अपनी नीतियों, व्यवस्था और व्यवहार का यह सोचकर विश्लेषण करते कि इनका बच्चों पर क्या असर पड़ रहा है या क्या असर पड़ सकता है। तब शायद हम बच्चों के लिए एक ईमानदार और जिम्मेदार समाज बना पाते। हमारी कोई भी नीति और व्यवस्था ऐसी नहीं है, जो बच्चों के प्रति संवेदनशील और खुली हुई हो।



पूंजीवादी आर्थिक विकास में सरकार के धन पर उसी का पहला हक उसका होता है, जो सरकार को राजस्व या कर देता है। बच्चे तो टैक्स नहीं देते हैं। शायद इसीलिए उन्हें उनकी जरूरत के बावजूद सरकार के बजट का सबसे कम हिस्सा मिलता है।

अच्छा और पोषण युक्त खाने की बात करना बहुत आसान है, पर इसे लागू करना बहुत कठिन भी है। आज सबसे ज्यादा कुपोषण आदिवासी और दलित समुदायों में है, जिन पर नयी विकास नीतियों का सबसे गहरा प्रभाव पड़ा है। जाने-माने समाज विज्ञानी वॉल्टर फर्नांडिज कहते हैं कि स्वतंत्रता के बाद भारत में लगभग 10 करोड़ लोग विस्थापित हुए हैं। इनमें 60 फीसदी आदिवासी हैं। यदि बात वंचित तबकों की हो तो विस्थापितों में 80 फीसदी से ज्यादा दलित-आदिवासी ही हैं। विस्थापन लोगों से उनकी जमीन, घर, कौशल और पर्यावरण छीन लेता है। यह

ककहरा कुपोषण का



बच्चों पर आघात का काम करता है। कभी खेती के लिए 1—2 महीने तक पलायन करने वाले लोग अब 10 माह के लिए उन महानगरों में पहुंचते हैं, जहां न उन्हें रहने की जगह मिलती है, न शौचालय और साफ पानी की सुविधा। बीमार पड़ना उनके लिए सबसे दुखदायी घटना बन जाती है। अब लोग स्थायी पलायन करने के लिए भी मजबूर हैं। ये जो व्यापक घटनाएं हैं, उनका बच्चों पर गहरा प्रभाव पड़ता है।

देश की विकास नीतियों का मकसद है कि लोग किसानों छोड़ दें, अनाज के उत्पादन से दूर हो जाएं। ऐसी नीति तो कुपोषण बढ़ाएगी ही न! अब दाल गांव में नहीं मिलती और बाजार में इसकी कीमत 60 से 90 रुपए प्रति किलो है। यह विरोधाभासी स्थिति है।

अब जबकि कुपोषण का चक्रवात हमारी आधी आबादी को चपेट में ले चुका है, तब देश और दुनिया की बहुत सारी कम्पनीनुमा संस्थाएं कुपोषण दूर करने के नाम पर देश के अलग अलग जिलों में टहल रही हैं। हर संस्था अपना एक मॉडल लेकर आ रही हैं। उनके मॉडल में कहीं न कहीं कोई उत्पाद, कोई पेस्ट या पाउडर जरूर छिपा हुआ है। उनके पीछे कोई न कोई कंपनी भी खड़ी है, जो कई बार नजर भी नहीं आती। बहुत सी कंपनियों ने यह भांप लिया है कि कुपोषण एक फायदेमंद बाजार है। हमारी सरकार अगले पांच साल में इस पर 2 लाख करोड़ रुपए खर्च करने वाली है। राजनीति यह है कि कोई भी संस्था यह मूल बात कहने को तैयार नहीं है कि हमारी विकास नीतियों में बदलाव किये बिना कुपोषण का यह जाल टूटने वाला नहीं है।

यह कहना भी गलत नहीं है कि जिस तरह का वर्ग और जाति आधारित समाज हमने बनाया है, उसमें सबसे ऊपर बैठा वर्ग यह नहीं चाहता कि सब वंचित तबके स्वस्थ और पोषित हो जाएं। यदि ऐसा हो गया तो उनकी बंधुआ मजदूरी कौन करेगा। वे सवाल पूछेंगे और शोषण का विरोध भी करेंगे। कुपोषण से मुक्ति केवल एक सामाजिक कार्यक्रम नहीं है। यह एक आर्थिक और राजनीतिक कार्यक्रम भी है। यह केवल बच्चों तक सीमित नहीं है। यह सामाजिक बदलाव का आन्दोलन है। यह बहुत जरूरी है कि हम परिवार, समुदाय और समाज के भीतर चारों तरफ फैली हुई चुप्पी को तोड़ें।



कुपोषण

के समुदाय आधारित प्रबंधन के लिए हम एक संयुक्त पहल का आगाज कर रहे हैं। यह पहल इस सोच और विश्वास पर आधारित है कि समुदाय के स्तर पर ही कुपोषण का सामना किया जा सकता है। कुपोषण को तब तक खत्म नहीं किया जा सकता है, जब तक की कुपोषण को पैदा करने वाली परिस्थितियों और मूल कारणों से नहीं निपटा जाएगा। यह अपने आप में केवल किसी एक योजना या केवल पोषण आहार से खत्म होने वाला संकट नहीं है। इससे कुपोषण तो एक हद तक ही कम किया जा सकता है। यदि जड़ों से बचपन की भुखमरी को मिटाना है तो हमें कुपोषण के बुनियादी कारणों - खाद्य असुरक्षा, आजीविका के संकट, सामाजिक भेदभाव, लिंग भेद और असमानता को भी खत्म करना होगा। यह सुनिश्चित करना होगा कि हमारी व्यवस्था संवेदनशीलता और जवाबदेहिता के साथ आवश्यक सेवाएँ बच्चों और महिलाओं को उपलब्ध करवाए। पीने का साफ पानी और स्वच्छता के बिना भी पोषण की बात संभव नहीं है। हम यह भी मानते हैं कि वर्तमान परिदृश्य में 5 साल से कम उम्र के हर बच्चे को झूला घर की गुणवत्तापूर्ण सेवाएँ मिलना चाहिए। इसके लिए समुदाय को नेतृत्व लेना होगा ताकि यह व्यवस्था भी अव्यवस्था की शिकार न हो जाए। हम पोषण और स्वास्थ्य के विषय पर व्यावहारिक रूप से सक्षम सामुदायिक संगठन बनाने की प्रक्रिया को एक बड़ी संभावना के तौर पर स्वीकार करते हैं। अनुभव यह बताते हैं कि बेहतर होगा कि हम अपनी पहल में 3 साल तक की उम्र के बच्चों की सबसे ज्यादा देखभाल और संरक्षण करें, क्योंकि यह सबसे संवेदनशील आयु वर्ग है। इसके साथ ही किशोरी बालिकाओं, गर्भवती और धात्री महिलाओं को इस पहल के केन्द्रीय लक्षित समूह माना जा रहा है। स्थानीय निकाय, स्वस्थ ग्राम तदर्थ समिति, ग्राम सभा, युवाओं के संगठन और महिला संगठन इस यात्रा के अनिवार्य सहयात्री ही नहीं हैं, बल्कि नेतृत्व समूह होंगे।

कहाँ खो जाते हैं
रोशनी के पैमाने तमाम
जब सो जाते हैं बच्चे
भूख से आलिंगन करके,
कहाँ खो जाते हैं
वो रंगीन ख्वाब
जब खाली
रह जाती है थाली,
यह कैसी परंपरा है
ज्ञान की
जहां माँ सिखाती है
कोख में ही
अपने भ्रूण को
ककहरा कुपोषण का,